



धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय

चेतना की पत्रिका

अंक : ६६

चैत्र-भाद्रपद

विक्रमाब्द : २०६१

अप्रैल-सितम्बर, २००५ ई०

सम्पादक - मण्डल

प्रो० काशीनाथ मिश्र

महन्त उद्धवदासजी

डा० श्रीरंजन सूरिदेव

आचार्य किशोर कुणाल

प्रधान सम्पादक

भवनाथ झा

महावीर मन्दिर प्रकाशन

के लिए

प्रो० काशीनाथ मिश्र

द्वारा प्रकाशित

तथा

सर्वलाइट प्रेस में मुद्रित

पत्र-सम्पर्क:

धर्मायण,

पाणिनि-परिसर,

बुद्ध-मार्ग,

पटना-८००००१

दूरभाष - ०६१२-२२०७७२५

E-mail : info@mahavirmandir.org

मूल्य : दस रुपये

धर्मायण

विषयसूची

भारतीय अध्यात्म-चिन्तन और सर्वधर्म समभाव :

डा. एस. एन. पी. सिन्हा ६

परमार्थदर्शनम् : सप्तम भारतीय दर्शन :

साहित्यवाचस्पति डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव १४

मैथिली साहित्य में राम-भक्ति-काव्य : डा० तीर्थ नाथ मिश्र १६

श्री अरविन्द : सावित्री एवं प्रकृति : प्रो० श्री कान्त प्रसून २६

प्रकृति, विकृति एवं पर्यावरण : प्रो० रामविलास चौधरी ३०

आग्रह के विग्रह डा० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी ३६

जगन्नाथस्वामी नयनपथगामी भवतु मे : आचार्य किशोर कुणाल ३६

जगन्नाथ-स्तुति (स्कन्दपुराण से) ४६

भारतीय कालगणना एवं नवसंवत्सरोत्सव :

आचार्य चन्द्रकिशोर पाराशर ५०

सामवेद ज्ञान का भण्डार है :

कमलेश नन्दिनी ५४

माँ सीता की शाश्वत यात्रा: सीतामढ़ी से सीतामढ़ी तक

डा. विनोद कुमार सिन्हा ५८

हिन्दू जीवन-शैली की वर्णमाला : डा० रामजी सिंह ६५

नारायण कवच : अनुवाद : अरविन्द मानव ६६

हर हर महादेव : स्व० आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ७५

व्रत त्योहार ७७

न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्

सम्पादकीय

संस्कृत भाषा में निबद्ध सुभाषित श्लोकों में एक यह बहुप्रचारित श्लोक है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।

प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः।।

अर्थात् सनातन धर्म यह है कि हम सत्य बोलें, प्रिय बोलें तथा ऐसा सत्य, जो अप्रिय हो या ऐसा प्रिय वचन जो मिथ्या हो; हमें नहीं बोलना चाहिए। सनातन धर्म में निहित सम्यक् वचन का एक स्पष्ट स्वरूप यहाँ प्रकट किया गया है।

‘सत्य’ तो स्वयं प्रकाशित है। इसके स्वरूप पर प्रकाश देने का प्रयास सूर्य को दीपक दिखाने के प्रयास से अतिरिक्त कुछ भी नहीं। फिर भी भारतीय शास्त्रों में सत्यता की रक्षा के लिए अनेक उपायों के अवलम्बन का उल्लेख किया गया है। जो सत्य है, जैसा हुआ है उससे भिन्न अभिव्यक्ति वर्तमान में न हो, इसके लिए अनेक वर्जनाएँ शास्त्रों में की गयीं हैं। काव्यशास्त्रियों ने इसे दोष माना है और निहतार्थ, क्लिष्टता आदि दोषों का परित्याग आवश्यक माना है। व्याकरण-शास्त्रियों ने तो अपशब्द की अवधारणा ही इसी भित्ति पर खड़ी की है कि वक्ता ने जिस शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया है इससे भिन्न अर्थ यदि श्रोता को लगे तो वह शब्द असाधु है। अतः शब्दों की साधुता एवं असाधुता के विषय में अर्थ को महत्त्व प्रदान करते हुए भर्तृहरि ने अपशब्द की परिभाषा देते हुए कहा है कि ‘अस्व’, ‘गोणी’ आदि शब्द अपशब्द नहीं हैं, वे ‘घोड़ा’ और ‘गाय’ के अर्थों में भले अपशब्द हों, किन्तु निर्धन और खेत के अर्थों में

क्रमशः शुद्ध हैं, सत्य हैं—

अस्वगोण्यादयः शब्दाः साधवो विषयान्तरे।

वाक्यपदीय : ब्रह्मकाण्ड

अपने अर्थ के सन्दर्भ में शब्द की साधुता और सत्यता के अन्वेषण के कारण इसलिए व्याकरण को पदशास्त्र या शब्दशास्त्र कहा गया है।

पूर्व-मीमांसकों ने वाणी की सत्यता के लिए ही अपना पूरा प्रपञ्च फैला रखा है। वैदिक वाङ्मय में उल्लिखित पंक्तियों में कौन सा सत्य छिपा है, इसका अन्वेषण वे करते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ सम्बन्धी विभिन्न विरोधी, सहायक एवं वैकल्पिक वचनों के आलोक में हमें कौन सा सत्य ग्रहण करना चाहिए, इसका प्रतिपादन मीमांसक करते हैं; अतः इसे वाक्य शास्त्र कहा गया है।

नव्यन्यायशास्त्रियों ने तो अवच्छेदकत्व का समग्र जाल इसलिए बिछाया है कि अमुक शब्द का अन्य सभी शब्दों के साथ सामान्यत्व और जाति, गुण, क्रिया, एवं यदृच्छा के आधार पर वैशिष्ट्य की निरुक्ति कर उसका शक्यतावच्छेदकत्व सुनिश्चित किया जा सके, जिससे वाणी की सत्यता पर आघात न पहुँचे और वक्ता एवं श्रोता के बीच कोई व्यवधान न रहे। इस शास्त्र को प्रमाणशास्त्र कहा गया है।

इस प्रकार वचन की सत्यता अर्थात् वक्ता और श्रोता के बीच की तारतम्यता तो पहली सीढ़ी है। दूसरी सीढ़ी है प्राकरणिक सत्यता। एक सन्दर्भ में कोई वचन सत्य होता है किन्तु दूसरे सन्दर्भ में वह असत्य हो जाता है। यह प्राकरणिक सत्यता असत्यता

का सत्योन्मुख रूप है। तीसरी सीढ़ी है शाश्वतिक सत्यता। जो वचन आज सत्य है वह कल भी सत्य रहेगा। चौथी सीढ़ी है— ब्रह्माण्डीय सत्य, इसे वैदिक ऋषियों ने 'ऋत' कहा है और तीनों प्रकार के पूर्वोक्त सत्यों से इसे अलग मानते हुए सत्य एवं ऋत दोनों का उल्लेख एकत्र किया है—

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत

प्रियता भी वाणी का एक गुण है। प्रियता पर हमारे ऋषियों और नीतिकारों ने इतना कुछ कहा है कि यदि केवल इसी को मनुष्य अपना ले तो उसे इसी लोक में स्वर्ग का सुख मिल सकता है। वैदिक ऋषि कहते हैं कि—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।

नीतिकार भी कहते हैं—

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।

तस्मात् तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता।।

अर्थात् प्रिय वचन कहने से तो सभी जीव-जन्तु प्रसन्न हो जाते हैं। इसलिए वैसा ही बोलना चाहिए; क्योंकि बोलने से तो मेरा कुछ घट नहीं जायेगा। यह बात व्यावहारिक रूप से भी सत्य है। हिंस्र जीव-जन्तु भी कोमल और कठोर वाणी को पहचानने में धोखा नहीं खाते। इस प्रियता की महिमा इतनी बड़ी है कि इसका उपयोग कर हम शत्रु को भी जीत सकते हैं। फिर तो हमारी अजातशत्रुता पर कोई आँच नहीं आ सकती।

भारतीय परम्परा किसी भी छोटे बच्चे को ईश्वर का स्वरूप मानती आयी है। इस प्रसंग में कहा जाता है कि उस बच्चे में स्वत्व और परत्व का भेद नहीं रहता है। लेकिन वह ज्यों ही अपने और पराये का भेद जानने लगता है, वह मनुष्य बन जाता है। भारतीय दर्शन भी इस भेद-बुद्धि की निवृत्ति को ब्रह्म-सायुज्य की संज्ञा देता है। प्रियता का यह भी माहात्म्य है कि वह इस स्वत्व और परत्व के भेद को

मिटा देता है। जो प्रियवादी है उसके लिए कोई पराया नहीं होता है—

कः परः प्रियवादिनाम्।।

अतः हमें प्रियता के प्रति साकांक्ष रहना चाहिए। इस प्रियता के भी दो रूप हैं। इनमें पहला है— श्रुतिप्रियता और दूसरा है— अर्थप्रियता। श्रुतिप्रियता कर्णेन्द्रिय का विषय है और अर्थप्रियता मन का विषय। प्रथम प्रकार के आधार पर संगीत आदि-काल से दुन्दुभि-घोष कर रहा है तो द्वितीय प्रकार के लिए काव्यशास्त्रियों ने अलंकार, रस आदि का अनुसन्धान किया है।

ऐसा सत्य जो अप्रिय हो, उसे भी नहीं बोलना चाहिए। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि सबसे पहले ऐकान्तिक असत्य का निषेध कर ऐकान्तिक प्रियत्व का आधान किया गया है, पुनः यहाँ सत्यता और प्रियता का योग वाणी के लिए आवश्यक कहा गया है। एक ओर चिन्तकों ने यह भी माना है कि कल्याणकारी वचन जो प्रिय लगे, वह भी दुर्लभ है। संस्कृत के विख्यात महाकवि भारवि ने किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के प्रथम सर्ग में कहा है—

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।

युधिष्ठिर और वनवासी किरात के बीच वार्तालाप के प्रसंग में यह कहा गया है। वनवास के समय युधिष्ठिर ने एक चतुर वनवासी को वेष बदलकर हस्तिनापुर भेजा था, ताकि उन्हें दुर्योधन के क्रिया-कलापों की सूचना मिले, जिसके अनुसार वे युद्ध के लिए प्रस्तुत होकर पुनः राज्य हस्तगत करें। वही वनवासी जब अपने कार्य में सफल होकर युधिष्ठिर के पास पहुँचता है, तब अपने कथन की भूमिका बाँधते हुए कथन के विधि एवं निषेध सम्बन्धी प्रतिपादन करता है। इस स्थल पर महाकवि भारवि ने वाणी के विषिष्ट गुणों का उल्लेख किया है—

स सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं

विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे।।

(किरातार्जुनीयम् : १।३)

यहाँ वाणी के तीन गुण गिनाये गये हैं— सुष्ठुता, उदारता और विनिश्चितार्थता। सुष्ठुता सत्यता का रूपान्तर है; उदारता सत्यता और प्रियता का समन्वित रूप है; और विनिश्चितार्थता वक्ता और श्रोता के बीच की सत्यता है।

वनवासी जानता है कि वह दुर्योधन की अच्छी राज्य व्यवस्था की सूचना ले कर आया है, जो युधिष्ठिर के लिए अप्रिय है; किन्तु उसे नहीं सुनाकर वह युधिष्ठिर का अहित भी नहीं चाहता है। इसलिए वह स्पष्ट शब्दों में नीति का प्रतिपादन करता है—

स किं सखा साधु न शास्ति योऽधिपं

हितान्न यः संशृणुते स किं प्रभुः।

सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं

नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः।।

अर्थात् हे राजन्! वह मित्र भी कैसा, जो अपने राजा को अच्छी बात न कहे। वह राजा भी कैसा, जो अपने शुभचिन्तकों की बात न सुने। राजा एवं मन्त्री दोनों में ताल-मेल बैठ आने पर सभी सम्पत्तियाँ उस राज्य में आती हैं।

संस्कृत भाषा की विशेषता है कि यहाँ एक वाक्य के अनेक अर्थ हो जाते हैं। यहाँ भी 'किं सखा' एवं 'किं प्रभुः' में यदि समास मान कर एक शब्द माना जाय तो क्रमशः कुत्सित मित्र एवं कुत्सित राजा का अर्थ होगा। अर्थात् यदि मन्त्री राजा को हित की बात न कहे तो वह कुत्सित मित्र है और यदि राजा उसे न सुने तो वह राजा भी कुत्सित है।

इसी क्रम में वह किरात कहता है कि सत्य एवं हितकर वचन अत्यन्त विरल हैं। इसी सन्दर्भ में उपदेशों का विवेचन स्पष्टता के लिए आवश्यक हो जाता है। भारतीय परम्परा में हितकारी उपदेश तीन प्रकार के माने गये गये हैं— पितृसम्मित,

मित्रसम्मित एवं कान्तासम्मित। वेदादि वचन पितृसम्मित है, जो हमारे लिए पालनीय धर्म हैं। वे अच्छे लगे या बुरे हमें उनका पालन करना है। वे हितकर तो हैं, किन्तु उनके पालन में कष्ट झेलने पड़ सकते हैं वह गुरु जनों के आदेश के समान है। इससे भिन्न पुराण, रामायण, महाभारत आदि महान ग्रन्थ हमें मित्र के समान उपदेश करते हैं। कथाओं का उदाहरण देते हुए समुचित रास्ते पर चलने की शिक्षा देते हैं। किन्तु ये उपदेश मित्र के समान उदासीन हैं। यदि हम उनके बतलाये मार्ग पर चलेंगे तो हमारा कल्याण होगा, नहीं चलेंगे तो अकल्याण होगा। जो कुछ होना है वह हमारा होगा; उनका नहीं। पुराणादि के उदाहरण और उपदेश वैसे ही शाश्वत रहेंगे। तीसरे प्रकार का उपदेश है— कान्तासम्मित उपदेश। कान्ता -प्रिया के समान उपदेश। काव्यों को इसी कोटि में रखा गया है, जिसमें प्रियता भी है और सत्यता भी है; हितोन्मुखता भी है।

ऐसी स्थिति में सत्यता और प्रियता - इन दोनों धर्मों से युक्त वचन अत्यन्त विरल हो जायेगा।

इस विरल वचन का अन्वेषण एक कठिन कार्य माना गया है। ऋग्वैदिक ऋषियों ने इसे 'चलनी से छानने की प्रक्रिया' के तुल्य माना है। जैसे सत्तू को हम चलनी से छानकर खाते हैं; उसमें निहित अशुद्धियों को अलग फेंक देते हैं, उसी प्रकार हमें वाणी को भी शुद्ध करना चाहिए।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो

यत्र धीराः वाचमक्रत।

अत्रा सखायः सख्यानि जानते

भद्रैषा लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि।।

अर्थात् चलनी में सत्तू की तरह अपने विचारों को स्वच्छ करते हुए जब मनीषी चिन्तन-शक्ति की सहायता से वाणी की रचना करते हैं, तब ही मित्र मित्रता को पहचानते हैं और उनकी वाणी में

कल्याणकारिणी लक्ष्मी का निवास होता है।

महाभाष्यकार पतंजलि ने अनन्त अपशब्दों में से साधु शब्दों के चयन का रूपक प्रस्तुत करने के लिए इस वैदिक वाणी को उद्धृत किया है, किन्तु इसका आयाम केवल साधु एवं असाधु शब्दों के सन्दर्भ तक सीमित नहीं है; बल्कि असत्यता अप्रियता सत्याप्रियता एवं प्रियासत्यता इन चारों अशुद्धियों को भी अलग कर सम्यक् वचन के अन्वेषण की दिशा तक विस्तृत है।

असत्यता और अप्रियता — ये दोनों भाव सरल हैं। इनमें कोई संकरता नहीं है। जहाँ संकरता आयी वहाँजाल और फन्दे स्वयं आ जाते हैं। दोनों ओर से सीमा-बन्धन। तानी और भरनी से बुनी गयी 'छेकनी' —चालनी। यहाँ से शुद्धीकरण का दौर कठिन हो जाता है।

सत्याप्रियता, जो सत्य हो किन्तु अप्रिय हो; वाणी की अशुद्धि है। इसे छान लेना चाहिए। अपनी माँ को पिता की पत्नी कहना इसका एक स्पष्ट उदाहरण है। इसका एक अन्य उदाहरण भी बहुचर्चित है। एक बार एक राजा ने अपनी जन्मकुण्डली एक ज्योतिषी से दिखवायी। ज्योतिषी ने गणना कर देखा और राजा से निवेदित किया कि हे राजन्! आप अपनी आँखों के समक्ष पुत्र पौत्रादि को दिवंगत होते देखेंगे। यह सुनकर राजा ने उस ज्योतिषी को अपमानित कर अपने राज्य से बाहर निकलवा दिया। कुछ दिनों के बाद एक दूसरे ज्योतिषी ने राजा की जन्मकुण्डली का अवलोकन किया। इस ज्योतिषी ने राजा से निवेदित किया कि हे राजन् आप परम दीर्घायु होंगे। दोनों ज्योतिषियों की गणना का एक ही निष्कर्ष था, किन्तु प्रथम ज्योतिषी ने सत्याप्रियता के परित्याग पर ध्यान नहीं दिया; अतः दण्डित किये गये। उनके कथन में सत्यता तो थी किन्तु अप्रियता थी। वह शिष्ट जनों की वाणी के विपरीत थी।

प्रियासत्यता तो बहुरूपिया नर्तकी है। वह कभी चापलूस बन जाती है तो कभी ठगिनी। कभी कुट्टिनी सी लुभाकर भरमाती है। अच्छा तो लगता है, पर परिणाम बुरा हो जाता है। प्रियता तो ठीक है पर बुरा परिणाम भला कौन चाहेगा!

इस प्रकार हमारी परम्परा वाणी की शुद्धता एवं सुन्दरता पर जोर देती हुई इसे कल्याणकारिणी बनाने का उपदेश देती है। सम्यक् वचन हमारा सबसे महत्त्वपूर्ण धन कहा गया है।

बौद्ध दर्शन में भी सम्यक् वचन को अष्टांगिक मार्ग में अन्यतम माना गया है। महाकवि अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' के १५वें सर्ग में अष्टांगिक मार्ग का रूपक बाँधते हुए सम्यक् वचन को उस मार्ग का विहार अर्थात् विश्राम-स्थल अर्थात् सराय कहा है।

भर्तृहरि ने भी संस्कार किये गये वचन को मनुष्य का सबसे भव्य भूषण माना है। 'नीतिशतक' में वे कहते हैं कि बाजूबन्द और हार पहनने से, स्नान करने और चन्दन आदि को लेप करने से, फूलों से अपने को सजाने से और वाल सँवारने से कोई सुन्दर नहीं हो जाता है; ये सभी वस्तुएँ तो हमेशा नष्ट होतीं रहतीं हैं, किन्तु शुद्ध किया हुआ वचन ही उसे अलंकृत करता है; अतः वचन का भूषण ही श्रेष्ठ भूषण है—

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्वला ।

न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्द्धजाः ।।

वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते

क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ।।

भारतीय अध्यात्म-चिन्तन और सर्वधर्म समभाव

डा. एस. एन. पी. सिन्हा

मधुमय देश भारत अत्यंत प्राचीन काल से ही ऋषि महर्षियों एवं सन्त संन्यासियों का मोहक राष्ट्र रहा है, जिन्होंने अपने करुणाजतिन त्यागमय जीवन से अखिल विश्व को ज्ञान की नई रोशनी प्रदान की। सामासिक संस्कृतियों को अपने में समेटे भारत का प्रकाश धरा ने सदैव ही विश्व-बंधुत्व, सदाचार, प्रेम, अहिंसा करुणा आदि से भरी मानवता का सन्देश दिया, जिसकी सर्वत्र प्रशंसा होती है।

मानवता के इन्हीं तत्त्वों को अन्य सभ्यताओं एवं धर्मों में सराहा गया। ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसा मसीह और इस्लाम के पैगम्बर मुहम्मद साहब ने भी भारतीय महापुरुषों की भाँति त्यागमय जीवन पर आधारित सामाजिक सहिष्णुता, अहिंसा,

मानव-प्रेम और करुणा का सन्देश दिया।

भारत के पूर्व राष्ट्रपति स्मृतिशेष डा० शंकरदयाल शर्मा ने अपने एक व्याख्यान में कहा था कि “हमारे देश का प्राचीन चिन्तन तथा प्राचीन संस्कृति अत्यन्त प्रगतिशील एवं समृद्ध रही है। हमारे देश में अनेक चिन्तक, साधक सन्त तथा महापुरुष हुए। उन सभी ने अपने युग

को गहराई से देखा, समझा और एक अच्छे भविष्य के लिए अपनी बातें कहीं। उन सभी के चिन्तन के मूल में एक स्वच्छ एवं समतावादी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की भावना थी। यह बात अलग है कि एक धर्मप्राण समाज ने उन चिन्तनों को एक धार्मिक विधि के रूप में लिया। बाद में, इन चिन्तनों में धीरे-धीरे विकार आने लगा, समाज धर्म के मूल से हटकर भटक

जाती और ऐसे में फिर किसी चिन्तक या सन्त का उदय होता एवं एक नए पन्थ की स्थापना हो जाती। इस प्रकार भारत नए-नए विचारों से समृद्ध होता गया लेकिन इन विचारों के केन्द्र में हमेशा एक बात रही **एकैव मानुष जातिः, एकम् सत्य विप्रा बहुधा वदन्ति।**” डा.

भारत विशाल देश है। यहाँ अनेक परम्पराएँ हैं; अनेक सम्प्रदाय हैं; अनेक धार्मिक विचार धाराएँ हैं। इनके स्थूल रूप भले ही हमें भिन्न-भिन्न दिखाई पड़े; किन्तु गहराई में जाने पर हमें स्पष्ट हो जाता है कि इनमें विभिन्नता नाम की कोई चीज ही नहीं है। दरअसल यह हमारा दृष्टि-दोष ही कहा जायेगा कि हमें सर्वप्रथम भेद ही दिखता है। दो वस्तुओं के बीच भेद उनका बाह्य स्वरूप होता है। भारतीय धर्मों के आन्तरिक स्वरूप में इस अभेद तत्त्व पर विचार प्रस्तुत कर रहे हैं, विद्वान् गवेषक एवं चिन्तक डा० एस० एन० पी० सिन्हा।

शर्मा ने इसी व्याख्यान में ‘धर्म ओर धर्मनिरपेक्षता बनाम सर्वधर्म समभाव’ विषय पर बोलते हुए कहा कि “मेरा विशेष जोर इस बात पर है कि हमारे समाज को सबसे पहले ‘धर्म’ और धर्मनिरपेक्षता का सही अर्थ समझना होगा। यह बात बहुत साफ की जानी चाहिए कि न तो धर्म का अर्थ सम्प्रदाय है, जैसे कि आजकल अक्सर भ्रमवेश समझा

जाने लगा है ओर न ही धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्म विहीनता से है। धर्म का अर्थ तोड़ना नहीं, बल्कि लोगों को जोड़ना है। धर्म एक संयोजक तत्व है। धर्म लोगों को जोड़ता है जबकि 'सम्प्रदाय' लोगों को तोड़ता है। यह निरपेक्षता क्या है? मैं समझता हूँ कि अंग्रेजी के 'सेक्यूलर' शब्द के लिए हिन्दी में 'सर्वधर्म समभाव' शब्द अधिक उपयुक्त होगा, बजाय 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द के अपने धार्मिक अधि-कार का उपयोग करने तथा अन्यो लोगों को उनमें धार्मिक अधिकार का उपयोग करने देने की भावना तभी आ सकती है, जब हमारे नागरिकों के मन में सभी धर्मों के प्रति समान भाव हो। मेरी समझ में धर्मनिरपेक्षता का यही सही अर्थ है। हमें इन्हीं तथ्यों के संदर्भ में एक धर्मनिरपेक्ष राज्य में धर्म का स्थान निर्धारित करना होगा।

वास्तव में देखा जाय तो धर्म वह दिव्य शक्ति है, जिस पर यह सम्पूर्ण जागतिक सत्ता आधृत है। राष्ट्र के अभ्युदय का अमोघ साधन है 'यतोभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।' आचार्य श्रीतुलसी ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि "मेरे अभिमत से सर्वधर्म सद्भाव का अर्थ इतना ही होना चाहिए कि अपने द्वारा स्वीकृत सही सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ विश्वास और दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता ।... धर्म जीवन का शाश्वत मूल्य है। वह एक सार्वभौम सत्ता है। आत्म साक्षात्कार या सत्य के साक्षात्कार की प्रक्रिया का नाम धर्म है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो आत्मा धर्म है, सतय ही धर्म है। धर्म एक अखण्डचेतना है। इसे टुकड़ों में विभक्त करना कठिन है।...यदि हम सर्वधर्म की बात करते हैं तो यह धर्म का अवमूल्यन है, क्योंकि धर्म तो स्वयं ही सत्यस्वरूप...सद्भावस्वरूप...समभावस्वरूप है।...सम्प्रदाय सत्य की उपलब्धि का माध्यम है। सत्य तक पहुँचने के लिए एक ही रास्ता है-सम्प्रदाय में रहते हुए

भी साम्प्रदायिक संकीर्णताओं से ऊपर उठना। संकीर्णता के घेरे से निकलते ही सभी धर्मों के प्रति सद्भावनापूर्ण विचार स्वतः आ जाते हैं। आचार्य श्री तुलसी के विचारों के आलोक में देखें तो सूफी, सिक्ख, जैन, बौद्ध आदि भी सर्वधर्म समभाव को मनुष्य की आत्मा के सौन्दर्य का ही अभिन्न रूप मानते हैं। जहाँ भक्ति काव्य के सन्तों और सुफियों ने इस दिशा में अपने दिव्य योगदान से मानव धर्म को संवर्द्धित किया, वहीं सर्वधर्म सद्भाव की दृष्टि से सिक्खों के पवित्र धर्मग्रंथ 'आदिग्रन्थ' एक अनूठा तीर्थ है, जिसमें एक से एक सद्भावपूर्ण सन्देश हैं-

मानस सभै पै'....

एक नूर ते सब जग उपजया...

मानस की जात सभै एकै पहचानवो'....

एक पिता एकस हम बारिक'

मानस की जात सबै एकै पहचानवो'

वस्तुतः राष्ट्र को एकता, अखण्डता और भावनात्मक एकता बनाए रखने के लिए सिक्ख धर्मगुरुओं ने एक ऐसे समाज की कल्पना की थी, जिसमें न कोई भेदभाव रहे, न ऊँचे-नीचे की क्षुद्र भावना। सम्पूर्ण राष्ट्र वर्गहीन होकर विश्वबन्धुत्व की एकसूत्रता में बँधे, यही सद्भाव तो अखण्ड मानव-प्रेम की चमत्कारिक मार्ग को प्रशस्त करता है।

चमत्कारिक अनुभव, गहरी अभिलाषा, लक्ष्य, जीवन और मृत्यु चक्र, किस्मत, सृजनात्मक एवं निर्णय करनेवाली शक्ति, लौकिक, अलौकिक और परिवर्तन आदि पर सभी जागरूक लोग अवश्य सोचते होंगे। युग-युगान्तर से इन चमत्कारों की तलाश में लोग लगे हैं। सभी महान विचारक इन चमत्कारों के कारणों को तार्किक मार्ग से ढूँढते रहे हैं। ब्रह्माण्ड और दर्शन को समझने के लिए अत्याधुनिक उपकरण आज हमारे समक्ष उपलब्ध हैं। विवेक और वैज्ञानिक जाँच से चन्द

(अर्थात् जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उस-उस भक्त की श्रद्धा को मैं उसी देवता के प्रति स्थिर करता हूँ।) यहाँ 'गीता' के उद्धरणों से स्पष्ट है कि अनेक रूपों में व्यक्त होकर भी सत्य एकमेव ही रहता है, जिसके मूल में होता है मनुष्य को समभाव से संस्कारित करने की भावना यही काम तो देश के संत महापुरुष करते हैं। स्वामी विवेकानन्द के वेदान्त दर्शन की वेदान्ती नैतिकता का भी यही सारांश है, जिसमें उनके द्वारा कहा गया है कि 'गीता' में यदि कोई ऐसी बात है, जिसे मैं पसंद करता हूँ तो यह इन दो श्लोकों में व्यक्त हुआ है-

**समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्
हिनास्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥**

(१३.२८)

अर्थात् ईश्वर को सर्वत्र समान रूप से देखकर आत्मा के द्वारा आत्मा की हिंसा नहीं करते। वह परम शान्त अवस्था में परम गति को प्राप्त होते हैं।)

**इहैव तैर्जितः संगो येषां साम्ये स्थितं ममः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥**

(५.१६)

अर्थात् जिसका अन्तःकरण समता में निश्चलतापूर्वक स्थित हो गया है, उसने समस्त लोकों पर विजय प्राप्त कर ली है, क्योंकि वह सब भूतों के अन्तर्गत ब्रह्मरूप में स्थित रहता है और चूँकि वह ब्रह्म, निर्दोष और सम है, इसलिए वह समदर्शी एवं निर्दोष है।) इन्हीं भावों में हमारी दार्शनिक समझ विकसित होती रही है। आपस में मिल-जुल कर रहने और सहनशीलता ही हमारे प्राचीन जीवन दर्शन की मुख्य आत्मा रही है और यही तो ऋग्वेद का भी संदेश है-
**संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवाभागं यथापूर्वं सं जनाना उपासते ॥'**

(ऋग्वेद- १०.१६१२)

प्राकृतिक पहलुओं को ही समझा जा सका है, किन्तु सभी चमत्कारों की व्याख्या करने में विज्ञान आज भी असफल है। सृष्टि और सृष्टिकर्ता पर ऋग्वेद के दसवें मण्डल में चर्चा की गई है-"वह जिससे इस सृष्टि का उदय हुआ, वह जिसने इस सृष्टि को बनाया या नहीं बनाया, सर्वोच्च भविष्यदर्शी, वह जानता है या कया वह नहीं जानता?" इस प्रकार धर्म का क्षेत्र, विश्वास एवं अन्तर्ज्ञानात्मक जानकारी उस विन्दु के प्रारम्भ होती, जहाँ वैज्ञानिक ज्ञान का अन्त हो जाता है। प्राचीन भारतीय परम्परा के अन्तरात्मिक ज्ञान प्रदर्शित करनेवाला ज्ञान, एक निष्पक्ष ज्ञान, तर्क एवं विनय का महत्त्व रहा। इसके पीछे यह निश्चित धारणा थी कि सत्य अभी भी महान् है। ऋग्वेद में सत्य को एक बतलाया गया है, भले ही विद्वज्जन इसे कई रूपों में वर्णित करें। इस तरह पूर्ण सत्य पर आधारित तर्क एवं अन्तरज्ञान के कई मार्गों को मान्यता प्रदान करते हुए समभाव के विचार को व्यक्त किया जाता और सर्वधर्म सद्भाव के प्रति आभार व्यक्त किया जाता है। धार्मिक दर्शन के अनेक संघनन केवल एक ही तत्त्व को महत्त्व देते हैं और वह है सत्य। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में एक जगह कहा है-

**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्तमानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥**

(४.११)

अर्थात् हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार से भजते हैं, मैं भी उन्हें उसी रूप में भजता हूँ, क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का तो अनुसरण करते हैं। 'गीता' में ही एक अन्य जगह भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी बात को दूसरी तरह से कहा है-

**यो यो यां यां तनु भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥**

(७. २१)

एक व्यक्ति जो यह मानता है कि सभी आत्माएँ उसी की आत्मा के मित्र हैं, उन्हें एक समान पसन्द करता है, कभी अकेला महसूस नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्ति के दैविक गुण जैसे त्याग, सहयोग और सेवा उसे अपने मित्रों का प्यारा बना देता है। वह सुख की अनुभूति से जीवन भर प्रसन्न रहेगा-

**मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं यक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य
चक्षुषा समीक्षामहे॥'**

(यजुर्वेद: ३८.१८)

अर्थात् सभी जीव मुझ पर मित्रवत् नेत्रों से देख सकें, मैं सभी जीवों को मित्रवत् स्नेह से देख सकूँ। हम सभी एक दूसरे को मित्रवत् आँखों से देख सकें।

**जनं विभ्रति बहुधा विवाचसम्।
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।'**

(अथर्ववेद)

अर्थात् वह पृथ्वी, जिसे भिन्न धर्मों और भाषाओं के लोगों को अपने यहाँ स्थान दिया है, इस शान्त घर में हम सभी को उसका लाभ मिले।

**'तान् प्रजाः बहुतां समग्रा वाचो मधु पृथिवी
घेहि मह्यम्।'**

(अथर्ववेद)

अर्थात् ओ माता पृथ्वी! अपने बच्चों के समान हमें आपसी सद्भाव की शक्ति दो, हम एक दूसरे से मधुर वचन बोल सकें। **'एकैव मानुषी जातिः'** अर्थात् सभी मनुष्य एक ही कुल के हैं। इस तरह धार्मिक सहिष्णुता एवं दृष्टि के विकास के लिए सर्वधर्म समभाव के लिए प्राचीन भारतीय विचार एवं दार्शनिक दृष्टि तथा नैतिक नियम का अपना विशेष महत्व है।

अपने सातवें शिलालेख में महान् मौर्य शासक सम्राट् अशोक कहता है-'देवताओं के

प्रिय प्रियदर्शी राजा चाहते हैं कि सब जगह सभी सम्प्रदायों के मनुष्य एक साथ निवास करें, क्योंकि सभी सम्प्रदाय के मनुष्य संयम और चित्तशुद्धि चाहते हैं। 'बौद्ध धर्म ने मनुष्य और मनुष्य के बीच के सामाजिक भेदभाव का सदैव विरोध किया। गणतन्त्रात्मक विचार को प्रधानता प्रदान करते हुए बौद्धसंघ ने स्त्रियों और पुरुषों को समान रूप से स्थान दिया गया। समानता, मनुष्यता और करुणा बौद्धधर्म की मुख्य विशेषताएँ रहीं। भारत की धार्मिक एकता को मजबूत करने में बौद्ध-दर्शन की भूमिका महत्वपूर्ण रही। इसी तरह जैन धर्म ने अहिंसा, ज्ञान सभी जीवों में एकत्व, समानता और सेवा को 'पावरफुल फोर्स' बताया है। 'भावनादातृमिसिका' जो सामयिका-पथ के नाम से भी जाना जाता है, सभी जीवों के प्रति सर्वप्रेम, सहानुभूति, सहनशीलता और करुणा का सन्देश देता है।

भारतीय परम्पराओं ने न केवल सभी धार्मिक धाराओं को स्वीकारा है, बल्कि यहाँ के लोगों ने भी सभी धाराओं का स्वागत किया है। सन् १६५२ ई. में ईसाई धर्म भारत पहुँचा। आज से १६ शताब्दी पूर्व ही केरल में ईसाई सन्त थॉमस द एपॉस्टल ने अपने शिष्यों को ईसाई धर्म का उपदेश देना शुरू किया। इस्लाम धर्म अपने उदय के साथ ही भारत पहुँचा। अल-इश्ताकरी नामक अरबी लेखक ने दसवीं शताब्दी में राष्ट्रकूट साम्राज्य में मुसलमानों के बसने और मस्जिदों के निर्माण का वर्णन किया है। तमिलनाडु क्षेत्र में बसे राबुत्तन और लब्बे नामक मुस्लिम समुदाय के बसने से भारत में इस्लाम के आगमन की जानकारी होती है। पश्चिमी घाट पर आठवीं शताब्दी में जोराष्ट्रीयनों को दान में मिले और संरक्षण भी। इनमें से किसी भी धर्म के आगमन सैनिक अभियान का परिणाम नहीं था। किसी भी धर्म ने यहाँ तलवार के सहारे प्रवेश नहीं

किया है। भारत के स्थानीय अधिकारियों एवं शासकों के सहयोग तथा संरक्षण से ही उन्हें भारत में स्थान मिला। ईसाई, इस्लाम और जोराष्ट्रीयनिज्म अपने साथ धार्मिक भावना, सहिष्णुता और मानवता का संदेश लेकर भारत पहुँचे, जिन्हें वैदिक, वैदान्तिक, बुद्धिस्ट एवं जैन दर्शनों ने पहले से ही उच्च स्थान प्रदान कर रखा था।

अपने बारहवें शिलालेख में सम्राट् अशोक ने सभी सम्प्रदाय वालों के साथ मेलजोल की भावना पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है, इस भावना के साथ कि 'सब सम्प्रदायों के सार (तत्व) की वृद्धि हो। सम्प्रदायों के सार की वृद्धि कई प्रकार से होती है, पर उसकी जड़ वाक् संयम है अर्थात् लोग केवल अपने ही सम्प्रदाय का आदर और बिना कारण दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा न करें। केवल विशेष कारणों के होने पर ही निन्दा होनी चाहिए, क्योंकि किसी न किसी कारण से सब सम्प्रदायों का आदर करना ही लोगों का कर्तव्य है। ऐसा करने से अपने सम्प्रदाय की उन्नति और दूसरे सम्प्रदाय का उपकार होता है। मेलजोल अच्छा है अर्थात् लोग एक दूसरे के धर्म को ध्यान से सुनें और उनकी सेवा करें।

फारस एवं अरब से आने वाले मुसलमानों ने भारत में आकर सूफी मत का प्रचार किया। इसी विचारधारा से प्रभावित होकर मध्यकाल में कबीर तुलसीदास, सूरदास, नानक, जायसी आदि संतों ने भारतीय जन-मानस को रूढ़िवादिता तथा साम्प्रदायिकता जैसे बुराइयों से मुक्त कर उसे ज्ञान भक्ति कर्म की त्रिवेणी में निमज्जित किया। अकबर की 'दीन ए इलाही' सर्वधर्म समभाव का ही संदेश देता है। मुस्लिमकाल की वास्तुकला राजपूत कला से प्रभावित है। महान् छत्रपति शिवाजी महाराज ने भारतीय परम्परा से निरपेक्ष विचारों पर प्रकाश डाला है। शेख सादी द्वारा

लिखित 'गुलिस्ता' और 'बोस्ता' में मानव मूल्यों पर विशेष ध्यान दिया गया। मानव-प्रेम, करुणा, परदुःखकातरता, निर्धनों दलितों की सहायता, आपसी व्यवहार में निष्कपटता और ईमानदारी की बात बताकर सर्धर्म समभाव की आवाज को बुलन्द किया गया। सूफी संतों ने झाल बजाकर कीर्तन करने की परम्परा चलाई, जिसे हिन्दुओं ने अपना लिया।

मुगल बादशाह जहांगीर सतनामी संत जदरूप गोसाई को एक बहुत बड़ा एकेश्वरवादी मानता था। शाहजहां के पुत्र दाराशिकोह के संरक्षण में 'मजामाउलबहरैन' (दो समुद्रों का विलय) की रचना इस तथ्य का साक्षी है कि हिन्दुओं और मुसलमानों के मूलभूत धार्मिक विचारों की समानता को विशेष महत्व दिया गया। शेरशाह के काल में ही जायसी द्वारा प्रसिद्ध काव्य 'पद्मावत' की रचना की गई। खलिफा उस्मान ने कुरान की आयतें सुनकर पुराण की रचना की। अठारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध उर्दू शायर मिर्जाफी 'सौदा' ने लिखा- "ओ शेख तूल ने मन्दिर गिराकर मस्जिद बनाई है। वरहमन के टूटे दिल को जोड़ने के बारे में क्या सोचा है?" गुरुनानक ने कहा - "बाबा नानक शाह फकीर/हिन्दू का गुरु मुसलमान का पीर।" अपने मूल ग्रन्थ 'तुहफलउल-मुवहिदीन' में राजा राममोहन राय ने जिन्हें सत्य के नए महाद्वीप के अन्वेषण में भारत का कोलम्बस' कहा, लिखा है- "सब देशों में रहनेवाले सामान्यतः इस सिद्धान्त को एकमत होकर मानते हैं कि प्रत्येक वस्तु को उत्पन्न तथा नियन्त्रित करनेवाली एक परमसत्ता है। एक अनन्त सत्ता की ओर उन्मुख होना मानव मन की नैसर्गिक प्रवृत्ति है।" उन्होंने कहा कि- "मूलभूत सत्ता की एकता में आस्था तथा मानव मूल्यों की स्वीकृति में ही समस्त धर्मों का सार निहित है।

सहिष्णुता, समन्वय तथा उदारता की शिक्षा के सशक्त प्रतिपादन करने का श्रेय स्वामी रामकृष्ण परमहंस को जाता है। अमरत्व, ईश्वरत्व तथा मानव-प्रेम के उदात्त आदर्शों से प्रेरित विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं कि “ईश्वरीय सत्ता को चाहे जो नाम दिया गया हो, परन्तु अपने मानवीय स्वरूप के कारण ही हमारे धर्म के इतिास में सर्वोच्च स्थान मिला है । ईश्वर की वीणा में बहुत से तार हैं, कुछ लोहे के हैं तो कुछ ताम्बे के, किन्तु ईश्वर की वीणा में सोने के तार केवल मनुष्य ही है।” १९३१ में शान्ति निकेतन में कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने भाषण के दौरान मानवता की व्याख्या करते हुए कहा- “मेरा धर्म मानव-धर्म है जो असीम मानवता में परिभाषित होता है।” पं. जवाहरलाल नेहरू का मानना था कि भारत को संकीर्णता की परिधि से निकलकर सभी धर्मों के साथ समान व्यवहार करना है ताकि एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित हो सके। इसी बात को महात्मा गान्धी ने अपने तरीके से परिभाषित करते हुए कहा कि “जब आप सत्य के ईश्वर को रूप में जानना चाहें तो उसका एकमात्र उपाय है प्रेम और अहिंसा।”

(यंग इंडिया, ३१ दिसम्बर-१९३१ ई.)

सर्वधर्म समभाव को मान्यता प्रदान करते हुए मेधावी चिन्तक श्रीअरविन्द ने लिखा- “विश्व-सत्ता शिव का आनन्द-नृत्य है, जो ईश्वर को असंख्य रूप में दृश्य बना है । परन्तु वह उस परमसत्ता को ठीक वहीं और उसी रूप में रहने देता है, जिसका एकमात्र उद्देश्य है, नृत्य का आनन्द।” ११सितम्बर, १८९३ ई. को शिकागो की विश्वधर्म परिषद् द्वारा किए गए अभिनन्दन के जवाब में स्वामी विवेकानन्द ने कहा था-“मुझे ऐसे धर्मावलम्बी होने का गौरव प्राप्त है जो संसार को ‘सहिष्णुता’ तथा ‘सब धर्मों को मान्यता प्रदान करने’ की शिक्षा देता है। हमलोग सभी धर्मों के प्रति केवल सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते

अपितु समस्त धर्मों को सच्चा मानकर ग्रहण भी करते हैं। मुझे एक ऐसे देश का नागरिक होने का अभिमान है, जिसने इस पृथ्वी की समस्त पीड़ित और शरणागत जातियों तथा भिन्न धर्मों एवं वर्गों के बहिष्कृत मतावदम्बियों को आश्रय दिया है। जिस वर्ष यहूदियों का पवित्र मन्दिर रोमन जाति के अत्याचार से धूल में मिला दिया गया, उसी वर्ष कुछ अभिजात यहूदी आश्रय लेने दक्षिण भारत में आए और हमारी जाति ने उन्हें छाती से लगाकर शरण दी । ऐसे धर्म में जन्म लेने का मुझे अभिमान है, जिसने पारसी जाति की रक्षा की और उसका पालन अब तक कर रहा है।” स्वामी विवेकानन्द ने एक अन्य जगह लिखा है “भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टट्टे-मेट्टे अथवा सीधे रास्ते ले जाने वाले लोग अन्त में मुझमें ही आकर मिल जाते हैं।” इसी आलोक में राष्ट्रपति गाँधी कहते हैं- “मैं अपने मकान में खिड़कियां खुली रखना चाहता हूँ और चाहता हूँ कि देश-देश की हवाएँ मेरे घर में प्रवेश करें।” वास्तव में, भारत में सर्वधर्म समभाव की अवधारणा को गाँधी जी ने अपने महाबलिदान द्वारा एक नैतिक आदर्श के रूप में प्रतिस्थापित कर दिया है । गाँधीजी का सम्पूर्ण जीवन ही सर्वधर्म समभाव का एक जीवन सन्देश बन गया । उनके जीवन का यही सबक था कि जो सर्वधर्म समभाव एक विचार मात्र है, वहीं अपूर्ण है। एक धर्म बहुल देश में सर्वधर्म समभाव की जड़ें तभी गहरी होंगी, जब वह लोगों के दिमाग पर ही नहीं, दिल पर भी प्रभाव डालेगा; जब सर्वधर्म समभाव की भाषा कुर्बानी और तपस्या की, प्यार और मोहब्बत की होगी- जैसे बुद्ध, कबीर, नानक आदि सन्तों की भाषा थी और जो सही मानी में इस देश के सन्दर्भ में सर्वधर्म समभाव का अग्रदूत थे।

सर्वधर्म समभाव का योरोपीय सन्दर्भ परम्परा और आधुनिकता के बीच आन्तरिक तनाव,

कशमकश और द्वन्द्व से जुड़ा था। दूसरी तरफ गाँधी जी ने सर्वधर्म समभाव को इन शब्दों में व्यक्त किया- 'वे सभी हिन्दुस्तान के हैं जो यहाँ पैदा हुए और यहाँ पले हैं। इसलिए हिन्दुस्तान उतना ही उनका है, जो पारसी हों, बेन इसरायली हों, हिन्दुस्तानी हों, मुसलमान हों या और किसी गैर हिन्दू धर्म के; जितना वह हिन्दुओं का है।' 'मेरे सपनों का भारत' की व्याख्या करते हुए महात्मा गाँधी ने कहा कि मेरे सपनों का भारत एक धर्म के प्रभुत्व पर आधारित भारत कभी नहीं होगा। उसका चरित्र न पूर्ण रूप से हिन्दू होगा, न ईसाई, न मुस्लिम। मैं चाहता हूँ कि वह पूरी तरह सहिष्णु हो और प्रत्येक धर्म का दूसरे धर्म से सहयोग और सद्भाव बना रहे। महात्मा गाँधी की बिल्कुल स्पष्ट मान्यता है कि "हिन्दू-मुसलमान दो राष्ट्र हैं, यह एक असत्य सिद्धांत है एक बंगाली मुसलमान वहीं भाषा बोलता है, जो बंगाली हिन्दू बोलता है। दोनों वही भोजन करता है, उसकी वही मनोरंजन है जो उसके हिन्दू पड़ोसी के हैं। उनकी वेशभूषा एक है। कई बार मैं बाहरी चिन्हों से बंगाली हिन्दू और बंगाली मुसलमान में कोई फर्क नहीं कर पाता हूँ। यही स्थिति कमोबेस दक्षिण के गरीब लोगों की है जो भारत के जनसाधारण हैं। मैंने पहली बार जब कायदे आजम (जिन्ना) को देखा तो यह नहीं लगा कि वह मुसलमान हैं। जब उनका पूरा नाम मुझे बताया गया तभी उनके मुसलमान होने का पता लगा, उनकी वेशभूषा, भाषा, जीवनशैली आदि से नहीं। किस आधार पर कायदे आजम कहते हैं कि हिन्दू और मुसलमान इतने भिन्न हैं कि उनके बीच की खाई को पाटा नहीं जा सकता है?" गाँधी जी ने पुनः कहा था - "यदि मनुष्य अपने ही धर्म के हृदय तक पहुँच जाए, तो वह स्वतः अन्य धर्मों के हृदय तक पहुँच जाएगा।"

सर्वधर्म समभाव की छत्रच्छाया में एक नवीन सन्त परम्परा का इस देश में श्रीगणेश हुआ, जिसके अग्रिम प्रतिनिधि महात्मा गाँधी ने कबीर के 'जो घर जाँरे आपनो चलै हमारे साथ' द्वारा जन जन के हित में महात्याग का फिर से आह्वान किया। विश्व में महात्मा गाँधी के अलावा अभी तक ऐसा कोई पैगम्बर पैदा नहीं किया। जिसने राजनीति की भयावह गन्दी बस्ती को धर्म के जीवन्त तत्त्वों की सार्थकता को प्रयोगशाला में बदलने का महाप्रयास किया।

समग्रतः कहा जा सकता है कि सभी धर्मों का लक्ष्य सत्य की खोज है और वहाँ तक पहुँचने के रास्ते भिन्न हो सकते हैं, पर 'लक्ष्य' एक है। "भारतीय चिन्तन और अध्यात्म की आधारशिला वेदान्त दर्शन पर स्थित है। वह विभिन्न धर्मों को उस एक अखण्ड सच्चिदानन्द रूपी महासागर की प्राप्ति के लिए अनेक मार्गों के रूप में देखता है। जिस प्रकार विभिन्न धर्मों को उस एक अखण्ड सच्चिदानन्द रूपी महासागर की प्राप्ति के लिए अनेक मार्गों के रूप में देखता है। जिस प्रकार विभिन्न नदियाँ अनेक पर्वतों से निकलकर टेढ़े या सीधे मार्ग से नीचे उतरती हैं और अन्त में समुद्र तक पहुँच जाती हैं, उसी प्रकार ये सभी मत-मतान्तर और धर्म विभिन्न दृष्टिकोणों से निकलकर सीधे या टेढ़े मार्गों से होकर चलते हुए अन्त में सत् चित् आनन्द रूपी महासागर में विलीन हो जाते हैं।"

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इवा॥'

(शिवमहिम्नःस्रोत्र)

धार्मिक विचारों में विभिन्नताएँ भले ही हों, पर वे अपने प्रयासों से 'सत्य स्वधर्म कर्म' वृत्ति प्रवृत्ति से उच्चतर अपने 'यथार्थ स्वरूप' की ओर प्रवृत्त होगा- सत्य स्वरूप परम ईश्वर परम आत्मरूप।.... कर्मयोगी दूसरों की सेवा कर ज्ञानयोगी ज्ञान का विकास कर, भक्त योगी अपनी भावना

या भक्ति का विकास कर उस सर्वोच्च अवस्था अर्थात् इन्द्रियातीत अखण्ड पर ब्रह्म परम ईश्वर को प्राप्त करेगा ।... विभिन्नता में एकता प्रकृति का नियम है....। हम विश्व के लिए अपने का ही मानदण्ड न समझते हुए सिर्फ यह समझें कि इस विश्व की पृष्ठभूमि एकता ही है और मनुष्य किसी भी मार्ग से चले, अन्त में उसी 'एक लक्ष्य' पर पहुँचेगा।”

स्वामी शरदानन्द के अमेरिका में दिए गए 'वेदान्त : सिद्धांत और व्यवहार' विषयक-भाषण, जिसके कुछ अंश यहाँ उद्धृत किए गए हैं। इसकी आधारभूमि पर स्थित है भारतीय चिन्तन में सर्वधर्म समभाव का चिन्तन। महान् पाश्चात्य-विचारक इतिहासवेत्ता एवं लेखक प्रो. अर्नल्ट टॉयनबी ने वर्तमान समय में हिंसात्मक प्रवृत्ति तथा विश्व की सभ्यताओं को टकराहटपूर्ण स्थितियों को विनाश के कगार पर देखकर कहा था- “मानवीय इतिहास के इस सर्वाधिक विस्फोटक क्षण में मानव जाति की मुक्ति के लिए भारतीय चिन्तन तथा इसकी विरासत ही एकमात्र रास्ता है। यहाँ हम भारतीयों में ऐसी चेतना और आत्मिक ऊर्जा है कि मानव जाति के विकास को एकल परिवार के रूप में संभव कर सकती है । इस आणविक युग में यही एकमात्र रास्ता है जिससे विनाश पर खड़ी सभ्यता बच सकती है।”

निश्चय ही यदि आज हम वैश्विक सभ्यताओं के विनाशपूर्ण संघर्ष से बचाव की ओर बढ़ते हुए एक नए विश्वप्रेम में आस्था व्यक्त करना चाहते हैं, तो हमें सर्वधर्म समभाव के रास्ते चलकर ही भारतीय आध्यात्मिक-चिन्तन को आत्मसात् करना होगा । जिस भारतीय अध्यात्म चिन्तन ने कभी विश्व को मार्ग निर्देशित किया था, वही आज के विस्फोटक क्षण में एक बार पुनः हमें शान्ति का सन्देश देने को आतुर है। हमें इसी शान्ति, सद्भावना और प्रेम के मार्ग पर आगे

बढ़ना होगा। “सर्वधर्म समभाव का अमृत मन्त्र देने वाले मधुमय देश भारत की वाणी ही एक बार फिर सम्पूर्ण विश्व में मुखरित होगी।” स्वामी चिदानन्द महाराज की यह उद्घोषणा अन्ततः शान्ति और मनुष्यता के पक्ष में सुनी जाएगी, मुझे इसका पूरा विश्वास है। अशोक महान् ने भी तो कभी कहा था-

‘समन्वय एव साधु वः

धर्म-विचार-दर्शन में समवाय ही शुद्ध दृष्टिकोण है। परम्परा, साहित्य एवं संस्कृति की दृष्टि से भारत सदैव एक और अखण्ड रहा है । यहाँ ऋषियों, सन्तों, आचार्यों एवं मनीषियों ने भेद के भीतर अभेद का जयनाद किया है। जब जब हम विघटनकारी ताकतों को सर उठाते अथवा मजहबी या क्षुद्र भावों को हिंसात्मक ताण्डव करते देखते हैं, तब तब हमारी एकता और अखण्डता पर एक प्रश्नचिन्ह खड़ा हो जाता है। इतिहास बताता है कि ऐसा उन्माद यदा-कदा आता ही रहता है, पर यह भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन का सत्य स्वरूप नहीं है, यह ऊपरी विकार है। हमारी आतंरिक शक्ति की गंगा फिर तीव्र प्रचण्ड वेग से प्रवाहित होने लगती है और विरोध के चट्टानों को चूर-चूर कर अखण्ड भारत में साम संगीत गुंजारित होने लगती है। यहाँ इस परिप्रेक्ष्य में महाकवि जयशंकर प्रसाद जी की एक कविता की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना प्रासंगिक होगा-

**शान्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त
विकल विखरे हैं हो निरुपाय,
समन्वय उनका करे, समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय ।**

पूर्व कुलपति, पटना विश्वविद्यालय
बी. ६२, पी. सी. कालोनी
लोहियानगर, पटना

परमार्थदर्शनम् : सप्तम भारतीय दर्शन

साहित्यवाचस्पति डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव

खण्डनात्मक प्रतिपादन द्वारा उन्होंने एक क्रान्तिकारी समाजसुधारक दार्शनिक की भूमिका का सफल निर्वाह किया है। इस प्रकार, उनका यह परमार्थदर्शन 'परमार्थदर्शनम्' पुण्यश्लोक महामहोपाध्याय पं. अ = य नास्तिक दर्शनों से सर्वथा भिन्न वस्तुवादी वैज्ञानिक नास्तिक दर्शन है।

म. म. शर्माजी ने आठवीं-नवी शती के महान् जैन दार्शनिक तथा कालजयी व्यंग्य-काव्य 'धूर्ताख्यान' (प्रा. 'धूर्ताख्यान') के रचयिता आचार्य हरिभद्र सूरि की तरह 'मेघदूतम्' की अनुकृति पर अपने व्यंग्य-काव्य 'मुद्गरदूतम्' की रचना करके यह सिद्ध कर दिया है कि वह एक ओर यदि दर्शन-गम्भीर थे, तो दूसरी ओर हास्य-विनोद के भी प्रेमी थे। इसलिए, कभी-कभी यह समझना कठिन हो जाता था कि वह कौन सी बात गम्भीरतापूर्वक और कौन-सी बात परिहास रूप में कह रहे हैं। वह एक ही विषय विश्वास या पाखण्ड के प्रबल विरोधी थे। का जिस विद्वता से खण्डन करने की शक्ति रखते 'परमार्थदर्शनम्' में इसी विषय का सुगम शैली में थे, उसी विद्वता के साथ उनके मण्डन करने में

प्राचीन भारतीय षड्दर्शन की भाँति, भाष्य सहित सूत्रों और वार्तिकों में निबद्ध 'परमार्थदर्शनम्' पुण्यश्लोक महामहोपाध्याय पं. रामावतार शर्मा-रचित सप्तम दर्शन माना जाता है। इस दृष्टि से महामनीषी शर्माजी कपिल और कणाद जैसे प्राचीन भारतीय दर्शन के शलाकापुरुषों में परिगणनीय हैं। वह चूँकि प्रमाणवादी थे, इसलिए प्रमाण और तर्क की कसौटी पर कसे बिना किसी बात को स्वीकार नहीं करते थे। अन्ध विश्वास और दुर्व्यसन के प्रति वह सदैव परम्परागत रूढि और भूत-प्रेत, तन्त्र-मन्त्र आदि के सम्बन्ध में अन्ध

महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा का जन्म बिहार प्रान्त के छपरा जिला में ६ मार्च १८७७ ई० में हुआ था। १९०१ से १९०५ तक ये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राचार्य रहे। १९०६ में तत्कालीन पटना महाविद्यालय में भी अध्यापन कर इसे अलंकृत किया। महामहोपाध्यायजी अपने काल में भाषाशास्त्र, दर्शन, एवं संस्कृत-साहित्य के साथ साथ अंग्रेजी के भी भारत-विश्रुत विद्वान् थे। इनके ६ ग्रन्थ संस्कृत में २ हिन्दी में तथा ११ अंग्रेजी में उपलब्ध हैं। संस्कृत काव्य के क्षेत्र में मुद्गरदूतम् एवं मारुतिशतकम् इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। परम्परा के अन्धानुकरण के स्थान पर स्वानुभूति का ग्रहण इनकी रचनाओं की अनन्य विशेषता रही है। यही कारण है कि न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्व-मीमांसा-उत्तर मीमांसा – इन छह आस्तिक दर्शनों की पूरी परम्परा उपलब्ध रहने पर भी इन्होंने नये वैज्ञानिक शोधों के परिप्रेक्ष्य में भारतीय दर्शन की व्याख्या पर आधृत 'परमार्थदर्शन' नामक एक अन्य दर्शन की आवश्यकता का अनुभव किया, जिसे प्रस्तुत लेख में सप्तम दर्शन कहा गया है। इस ग्रन्थ पर आचार्य श्रीरंजन सूरिदेव की लेखनी प्रस्तुत है।

भी समर्थ थे । इस प्रकार, वह तेरहवीं सदी के मिथिला-निवासी प्रसिद्ध नैयायिक पं. पक्षधर मिश्र का प्रतिनिधित्व करते थे।

म.म. शर्माजी का 'परमार्थदर्शनम्' मूलतः अपने-आप में पूर्ण स्वतन्त्र महाग्रन्थ है, जिसकी पाण्डुलिपि के उद्धार और प्रकाशन का महत् कार्य विश्वविख्यात शास्त्रीय प्रकाशन-प्रतिष्ठान मोतीलाल बनारसीदास ने करके अपने 'प्रकाशक' संज्ञा को सच्चे अर्थ में सार्थक किया है। दर्शनशास्त्र के पारगामी विपश्चित् म० म० शर्मा जी की यह महत् कृति सात अध्यायों में आबद्ध है। इनमें प्रथम से षष्ठ तक के अध्यायों में दो-दो आह्निक हैं और सप्तम अध्याय में तीन आह्निक हैं। यों, मूल सूत्रों के गुम्फन की दृष्टि से यह ग्रन्थ पूर्ण है, किन्तु चतुर्थ अध्याय में द्वितीय आह्निक तथा सप्तम अध्याय में प्रथम आह्निक के अट्टारह सूत्र तथा द्वितीय-तृतीय आह्निक के सभी सूत्रों का भाष्य अनुपलभ्य है । लगता है, उन्होंने सूत्रों की रचना तो कर दी, पर उनका भाष्य पूरा नहीं कर सके। सप्तम अध्याय के उक्त आह्निकों के सूत्रों पर वार्तिकों की रचना भी वह नहीं कर पायें । इस दृष्टि से उनकी यह उत्कृष्ट दार्शनिक कृति अपेक्षया अपूर्ण ही मानी जायेगी।

म. म. शर्माजी का यह दृढ़ मत है कि परमार्थदर्शन ही, भारत का प्राचीन दर्शन है। किन्तु, प्रमत्त व्याख्याताओं ने उसकी बार-बार भ्रान्त व्याख्या करके उसे विकृत कर दिया । इसलिए, महामहोपाध्यायजी ने प्रस्तुत कृति में पहले की भ्रान्त व्याख्या का निराकरण करके उसे 'परमार्थानुशासन' नाम से प्रस्तुत किया है, जिसमें आधुनिक मनुष्यों के लिए प्राचीन विज्ञान के साथ नवीन आविष्कृत वैज्ञानिक तत्त्वों का संग्रह उपन्यस्त हुआ है।

इस अपूर्व ग्रन्थ का महनीय प्रतिपाद्य चार स्वरूपों में परिवेशित है: अधिकरण, सूत्र, भाष्य और वार्तिक। इन स्वरूपों में ग्रन्थ के स्वीकृत विषय-बिन्दु का सांगोपांग विवेचन पाण्डित्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत हुआ है। 'अधिकरण' में प्रतिपाद्य मूल विषय का श्लोकबद्ध निर्देश है। पुनः उसी विषय को 'सूत्र' के रूप में रखा गया है। जिसकी पुंखानुपुंख विवेचना के लिए विशद भाष्य की अवतारणा की गयी गई है। और फिर, उसी के समर्थन में श्लोकबद्ध वार्तिकों की रचना की गई है। म. म. शर्माजी का प्रतिपाद्य विषय सर्वथा समसामयिक है, किन्तु इसके विश्लेषण के लिए अपनाई गई उनकी भाषा शैली पारम्परिक दर्शनकारों या भाष्यकारों की तरह गहन गम्भीर है।

प्रतिपाद्य विषय के उक्त चारों स्वरूपों की स्थापना का क्रम इस प्रकार है: प्रथम अध्याय के द्वितीय आह्निक में दिव्यदृष्टि है या नहीं, इस सन्दर्भ में अधिकरण का श्लोकांश रखा गया है। जैसे : अस्ति वा नास्ति दिव्या'।

इसे सूत्र रूप में इस प्रकार रखा गया है :
'न दिव्या दृष्टिरनुमानानतिरेकात् (१.२.१)।

इसके बाद इस सूत्र का आठ पृष्ठों से अधिक का विशद भाष्य प्रस्तुत किया गया है। और फिर वार्तिक में इस सन्दर्भ की स्थापना इस प्रकार की गई है:

दिव्यदृष्टिरनुमैव न चान्या

व्याहतिप्रणय एव तथान्यम्।

भावि भूतमथ यच्च भवत्तद्

विप्रकृष्टमनुमानविगाहम्॥ (१.२.१)

इस सन्दर्भ में प्रस्तुत महामहोपाध्यायजी के विशद भाष्य का सारांश यही है कि दिव्यदृष्टि एक मिथ्या कल्पना-मात्र है। परोक्ष वस्तु का ज्ञान केवल अनुमान द्वारा ही हो सकता है। अनुमान की सहायता से लोग कोई चिह्न या लक्षण देखकर

परोक्ष की बात भी बता सकते हैं। इसलिए परोक्ष की बातें अनुमान की सहायता से ही जानी जा सकती है, दिव्य दृष्टि से नहीं। अतएव, अपरिपक्व बुद्धिवालों को दिव्यदृष्टि की बात कहकर बहकाने वाले दाम्भिकों के फेर में पड़कर अपना सर्वनाश करने की अपेक्षा परमार्थ के ज्ञान का प्रयास करना चाहिए। दिव्यदृष्टि पर तीखा प्रहार करते हुए म. म. शर्मा जी ने चुटकीली शैली में लिखा है कि एक वेश्या से उत्पादित उपदंश रोग जिस प्रकार दूसरे वेश्या में संक्रमण करता है, उसी प्रकार दिव्यदृष्टि का प्रलोभन देनेवाले एक सिद्ध से विमोहित लोग पछतावे में पड़कर भी दूसरे सिद्ध की आराधना करते हैं:

केचित्तु पश्चात्तापे सत्यपि कयापि पण्यङ्गनयोत्यादितोपदंशाः पण्यङ्गनान्तरमिवैकेन सिद्धेन विमोहित-सिद्धान्तरमाराधयन्तो विनश्यन्ति । तस्मान्न दिव्यदृष्टिप्रकर्षान् बन्ध्यापुत्रबृहत्कथा- लम्बकानिव दुरन्तान्कोऽप्यप्रमत्तः श्रोतुमर्हति। अनुमानेन तु संनिकृष्टलिङ्गं परोक्षमपि यत्किञ्चिद्गृहीतलिङ्गं वक्तुं शक्नुवन्ति।' (तत्रैव : पृ. ४६)

महामहोपाध्यायजी दिव्यदृष्टि, आकाशगमन आदि की बात को बन्ध्यापुत्र की कथा की तरह मिथ्या मानते थे। वह सत्य वचन को ही देववाणी या दिव्यवाणी समझते थे। वह विधिवाक्य को अधिक मूल्य देते थे और अर्थवाद को प्रमाण सापेक्ष मानते थे। उनकी दृष्टि में विधिवाक्य निर्हेतु है और अर्थवाद सहेतुक। वह विधि के प्रति आस्थाशील थे और अर्थवाद में अन्धभक्ति या अज्ञान का प्रवेश नहीं होने देना चाहते थे। सत्य का अन्वेषण और उपपत्ति-विरुद्ध बातों का परित्याग ही परमार्थवादी म. म. शर्माजी का वैचारिक लक्ष्य है, जिसका उन्होंने सबल तर्कवाद द्वारा अपने 'परमार्थदर्शन' ग्रन्थ में बहुधा विस्तार

किया है। सचमुच 'परमार्थदर्शन' म. म. शर्माजी की विलक्षण बौद्धिक प्रतिभा और अनन्त दर्शन-ज्ञान का परमाद्भुत निदर्शन है।

ज्ञातव्य है कि अनीश्वरवादी दार्शनिक महामहोपाध्यायजी के दार्शनिक चिन्तन पर पौरस्त्य या पाश्चात्य किसी भी दर्शनकार का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। उन्होंने पतंजलि के योगदर्शन के अतिरिक्त ईश्वरवादी आस्तिक दर्शन और अनीश्वरवादी नास्तिक दर्शनों का सप्रमाण खण्डन किया है। पाश्चात्य दार्शनिकों में सुकरात (सुकृतु), कॉलविन (कालवीण), कोपर्निकस (कुपर्निक), न्यूटन (नवतनु), डारविन (दारुवीण) आदि के वैज्ञानिक सिद्धान्तों को उन्होंने इसलिए मूल्य दिया है कि वे सिद्धान्त प्रमाणसिद्ध हैं, यद्यपि कहीं कहीं पाश्चात्य दार्शनिक भी उनके रचनात्मक आक्षेप के लक्ष्य बनने से बच नहीं पाये हैं। उन्होंने पाश्चात्य दार्शनिकों को भारतीय नाम-संस्कार तो किया ही है। अत्याधुनिक वैज्ञानिक तत्त्वों की लघुवाक्यों द्वारा प्रतिपादन-शैली भी व्यंग्यविद्ध होने के कारण अतिशय प्रहारक और प्रभावक बन गई है। एक उदाहरण:

पुनरन्यदा देवदत्तः परामार्थज्ञं सुकृतमुपास्ते। पृच्छति चैनं भगवान्। शब्दः कस्य गुणः तौ न मन्त्रयेते। वायुमण्डलाद् भूमिवेष्टनादूर्ध्वं चन्द्रसूर्याद्याः। वायुमण्डले पुनर्मैघाः संप्लवन्ते। मेघेभ्यो वैद्युतः प्रकाशः पृथिवीमागच्छति। तदनन्तरं स्तनितं श्रोत्रविदारणमाकर्ण्यते। प्रकाशमात्रं सपर्यादीषूपलभ्यते न सम्भवन्नपि तत्रत्यः कोऽपि शब्दोऽत्र श्रूयते। तदेतद् गमयति वायवीयानामणूनां कम्पे शब्दश्रवणम्। तदभावे शब्दाश्रवणम्। आकाशस्तु प्रकाशधर्मा। इत्थं मन्त्रयमाणौ तौ कञ्चिद्वैज्ञानिकमुपगम्य तमेव विषयं पृच्छतः। स च तौ वर्तुलं पात्रं दर्शयति।

तस्मिंश्च घण्टिकां वादयति। सर्वे तच्छब्दमाकर्णयन्ति । अथ वैज्ञानिको वायु-निःसारणयन्त्रेण पात्रं प्रायो निर्मारुतं करोति। परीक्षावसाने शब्दस्य वायु-सम्बन्धं स्फुटं प्रत्येति देवदत्तः । सहर्षश्च सुक्रतुं वदति । प्रामादिकं कणभक्षादीनां वचनं शब्दगुणमाकाशमिति। (१.१.७.८)

इस अवतरण में सुकरात और देवदत्त की परस्पर जिज्ञासा के माध्यम से महामहोपाध्यायजी ने वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद के इस मत का कि 'शब्द आकाश का गुण है' ('शब्दगुणकमाकाशम्'), खण्डन करते हुए अपनी विज्ञान-सम्मत तार्किक पद्धति से सिद्ध किया है कि शब्द आकाश का नहीं वायु का गुण है। इस प्रकार उन्होंने पूरे 'परमार्थदर्शन' में अपनी सर्वथा अभिनव वैज्ञानिक दार्शनिक दृष्टि का प्रतिपादन किया है। क्रान्तद्रष्टा दार्शनिक महामहोपाध्यायजी द्वारा लिखित यह कालोत्तीर्ण दर्शन-ग्रन्थ समकालीन समाज में व्याप्त अन्धविश्वास को निराकृत कर 'परमार्थ' को समझाने की दृष्टि से आधुनिक भारतीय जीवन के लिए सर्वथा प्रासंगिक है। आजतक किसी भी पौरस्त्य या पाश्चात्य दार्शनिक ने महामहोपाध्यायजी की तरह प्रत्यक्ष समाज सुधार की चिन्ता नहीं व्यक्त की। इस दृष्टि से उनका 'परमार्थदर्शन' अवश्य ही एक अपूर्व दर्शन ग्रन्थ है, जिसका विद्वज्जगत् के अतिरिक्त विश्वविद्यालयों के दर्शन और संस्कृत-विभागों में व्यापक शोध-अध्ययन अपेक्षित है।

महान् नव्य दार्शनिक महामहोपाध्यायजी ने 'परमार्थदर्शन' नाम के इस नये दर्शन की आवश्यकता सिद्ध की है और संग्रह, विवेक, व्यवस्था, अनाग्रह, उद्योग और अभ्युदय को इसका प्रयोजन बताया है। उनकी चिन्तनदृष्टि में 'संग्रह' का अर्थ है कि अनभिज्ञ व्याख्याकारों ने प्राचीन

दार्शनिकों के चिन्तन की भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या करके वास्तविकता का विलोप कर दिया है। अतः यथार्थ या परमार्थ की पुनः प्रतिष्ठा के लिए उसका पुनराख्यान अपेक्षित है। विज्ञान के नये नये तथ्यों का आधुनिक दर्शन में समावेश वांछित है। प्राचीन शास्त्र और नवीन विज्ञान का समन्वय ही 'परमार्थदर्शन' का केन्द्रीय उद्देश्य है।

व्याहत (अनुमान, प्रमाण आदि से बाधित) बातों की अच्छी तरह परीक्षा करके ही उन्हें ग्रहण करना 'विवेक' है। विवेकशून्यता अनर्थकर होती है। मन्त्र-तन्त्र, झाड़-फूँक के सहारे अलौकिक कार्यों के निष्पादन की आशा मृग मरीचिका मात्र है। इस प्रकार की निरर्थक बातों को रोकना भी 'परमार्थदर्शन' का मूल उद्देश्य है।

परमार्थ-ज्ञान के बिना न्यायविद् भी विधि की गलत व्याख्या के भुलावे में आकर सही दण्डनीति का प्रयोग नहीं कर सकेंगे, जिससे संसार की विधि व्यवस्था लुप्त हो जायेगी। इसलिए सही 'व्यवस्था' के निमित्त शासक को परार्थज्ञ बनाना भी 'परमार्थदर्शन' का मुख्य उद्देश्य है। परमार्थज्ञ पुरुष अनाग्रहवादी होता है। वह 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' को मूल्य न देकर ऋषियों के भी अयुक्तिक विषयों को अस्वीकार कर देता है। दुराग्रह अन्धविश्वास का प्रतीक है। अन्ध विश्वासी जन ज्ञान-विज्ञान के शत्रु हैं। इसलिए, दुराग्रह-रूप अन्धविश्वास के निर्मूलन के लिए 'अनाग्रह' वृत्ति का आश्रयण भी 'परमार्थदर्शन' का परम लक्ष्य है।

'उद्योग' पुरुषार्थ का पर्यायवाची है। परमार्थज्ञ पुरुष दैव या भाग्य पर निर्भर न रहकर पुरुषार्थ करता है। वह अपने कुटुम्ब का गलग्रह नहीं होता, न नहीं अन्धविश्वास या दुर्व्यसन में पड़ता है। वह विद्या अर्जित करके उचित व्यवसाय से परिवार का पोषण करता है और लोकोपकार में

लगा रहता है। इस प्रकार, प्रत्येक मनुष्य को उद्योगी बनाना भी 'परमार्थदर्शन' का प्रमुख प्रयोजन है।

'अभ्युदय' से महामहोपाध्यायजी का अभिप्राय है- ज्ञानपूर्वक जीवन जीना । अविद्या या अज्ञान का अन्धकार ही जीवन का बन्धन है। इससे छुटकारा पाकर ज्ञान के प्रकाश में आ जाना ही जीवन्मुक्ति है। यही परम 'अभ्युदय' है। इस प्रकार, अज्ञान-रूप अन्धकार से ज्ञान-रूप प्रकाश की ओर ले जाना भी 'परमार्थदर्शन' का मुख्य लक्ष्य है।?

भाष्य का प्रारम्भ करते हुए युगबोध-सम्पन्न दार्शनिक महामहोपाध्यायजी लिखते हैं:

“यथार्थज्ञानं मुक्तिरयथार्थज्ञानं बन्ध इति सिद्धान्तमनुसरन् परमकारुणिकः सूत्रकारो जगतः सम्यग्ज्ञानाय परमार्थानुशासनं नाम शास्त्रं प्राणैषीत्।”

अर्थात्, यथार्थ का ज्ञान मुक्ति और अयथार्थ का ज्ञान बन्धन है। इसी सिद्धान्त के आधार पर परम कारुणिक सूत्रकार ने दुनिया के लोगों को परमार्थ का सम्यग्ज्ञान कराने के लिए 'परमार्थानुशासन' नामक शास्त्र की रचना की। संक्षेप में, परमार्थशासन-रूप 'परमार्थदर्शन' का मुख्य प्रयोजन पाखण्डन-खण्डन तथा पुरुषार्थवादी यथार्थ तत्त्वों का संग्रह है। देव की जगह पुरुषार्थ को मूल्य देनेवाले ग्रन्थकार वार्तिक में कहते हैं:

**दैवशब्दकलिभूतशक्तिभिः
ख्यापिताभिरिह धूर्तबालिशैः।
वञ्चितेन परमार्थधीर्जने
तां पुनर्जनयितुं यतामहे॥**

(१।१।८)

अर्थात्, जो भोली-भाली जनता को ठगते हैं उनके जाल से उसे छुड़ाकर लोगों में सद्बुद्धि या परमार्थ ज्ञान का उदय करना ही ग्रन्थकार का सारस्वत प्रयत्न है।

इसीलिए 'परमार्थ' शब्द की परिभाषा करते हुए ग्रन्थकार ने प्रथम अध्याय में प्रथम आह्निक

के द्वितीय सूत्र में लिखा है: 'अव्याहतः पुत्रवतीपुत्रसमः परमार्थस्तदन्यो बन्ध्यापुत्रसमः।

अव्याहत (अबाधितः प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध) विषय, जैसे 'पुत्रवती का पुत्र' ही परमार्थ है और उससे इतर व्याहत (बाधितः प्रमाण आदि से असिद्ध) विषय, जैसे 'बन्ध्या का पुत्र' परमार्थ की कोटि में नहीं आता । ग्रन्थकार ने अपनी प्रतिज्ञा में लिखा है कि जो अव्याहत है, वह परमार्थ है', यह मेरी प्रतिज्ञा नहीं है, वरन् 'जो व्याहत है, वह परमार्थ नहीं अपरमार्थ है, यह मेरा प्रतिपाद्य है। महामहोपाध्यायजी की अन्ध विश्वास से ग्रस्त, भारतीय समाज को परमार्थ का ज्ञान कराने के लिए व्यापक दार्शनिक अवतारणा रूपक रमणीय तो है ही व्यंग्यतीक्ष्ण, विलक्षण और विस्मयकारी भी है। अन्धविश्वास से ग्रस्त भारतीय समाज का इतना विराट् चित्र परमार्थदर्शन से अन्यत्र दर्शन-दुर्लभ है।

कहना होगा कि आज से लगभग सौ वर्ष पहले लिखित विलक्षण अक्षरपुरुष महामहोपाध्यायजी के इस दर्शन ग्रन्थ में समकालीन बहुकोणीय समाज कथा का आकलन जिस प्रखर, प्रांजल और प्रवाहपूर्ण भाषा में किया गया है, वह प्रबुद्ध पाठकों के हृदय को सहसा आवर्जित कर लेने में समर्थ है। संस्कृत की दर्शनगूढ प्राचीन भाषा शैली में आधुनिक से आधुनिकतम सामाजिक विसंगति की भूतलक्षी विनियोग महामहोपाध्यायजी जैसे जनजीवन के सूक्ष्म अन्तर्निरीक्षक दार्शनिक के ही बूते की बात थी। इस ग्रन्थ में विन्यस्त भाष्यानुसारी वार्तिक श्लोक तो ततोऽधिक अर्थोन्मेषक और विषयाभिव्यञ्जक है।

३७, भा. स्टेट बैंक ऑफिसर्स कॉलोनी
काली-मन्दिर मार्ग, हनुमाननगर

▼

मैथिली साहित्य में राम-भक्ति-काव्य

डा० तीर्थनाथ मिश्र

परम्परा के प्रतीक हैं।

भारतीय भक्ति-साहित्य के इतिहास में मिथिला का विशिष्ट स्थान रहा है। धर्म, दर्शन, भक्ति और अध्यात्म के केन्द्र के रूप में प्राचीन मिथिला प्रतिष्ठित रही है। धार्मिक दृष्टि से मिथिला में पंचदेव(सूर्य, गणेश, अग्नि, दुर्गा एवं शिव) के साथ पृथक्

रूप से विष्णु की पूजा की परम्परा रही है, जिससे नित्य कर्म माना गया है।

मिथिला को राम-कथा की नायिका जगज्जननी सीता की जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त है। यही कारण है कि यहाँ के जन-मानस में श्रीराम का साधारणीकरण एक दूल्हा के रूप में हुआ है। साथ ही, इस क्षेत्र में विरचित राम-कथा-काव्यों में सीता का चरित अधिक मुखरित हुआ है। शक्ति उपासना का केन्द्र होने के कारण सीता को आदि-शक्ति के रूप में देखते हुए काली, दुर्गा आदि देवियों के साथ तादात्म्य-सम्बद्ध देखना भी इस क्षेत्र के काव्यों की एक अन्य विशेषता है। इन वैशिष्ट्यों को स्पष्ट करते हुए मैथिली भाषा की राम-काव्य की परम्परा पर आलेख प्रस्तुत है।

—सं०

इन छह देवों की पूजा के बाद ही अन्य किसी देवता की पूजा करने की परम्परा यहाँ रही है। यद्यपि शक्ति और शिव की उपासना के लिए यह क्षेत्र प्रसिद्ध है, किन्तु यहाँ प्रत्येक पारम्परिक परिवार में सामान्यतया शालिग्राम की पूजा होती आयी है। यहाँ बारहवीं शती से पूर्व काल का एक ऐसा शिवलिंग(ग्राम—जमुथरि, झंझारपुर, मधुवनी) भी उपलब्ध है, जिसमें राम-गायत्री उत्कीर्ण है। वैष्णव-व्रतों, उत्सवों का आयोजन श्रीमद्भागवत, हरिवंश एवं ब्रह्मवैवर्तपुराण की लोकप्रियता इस क्षेत्र में विष्णु की उपासना की

श्रीराम की राजमहिषी सीता की जन्मभूमि मिथिला है। यहाँ के जन-जीवन में राम का चरित्र अलत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यहाँ की लोकभाषा मैथिली के साहित्य में आदि काल से रामभक्ति की लोकप्रियता के संकेत अनेक स्थलों पर उपलब्ध हैं।

मैथिली की सर्वप्राचीन रचना कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठाकुर कृत वर्णरत्नाकर है। इसका रचना काल तेरहवीं शताब्दी मान्य है। इस कृति में प्रसंगवश कवि ने राम के

महत्त्व को उद्घाटित किया है। ग्रन्थ के पंचम कल्लोल में 'पोखरावर्णना' में कहा गया है— रामक यश अइसन निर्मल। पुनः एक अन्य स्थान पर पतिव्रता के रूप में सीता का उल्लेख हुआ है। अष्टम कल्लोल में अठारह पतिव्रताओं की सूची में जानकी का उल्लेख हुआ है। इसी स्थल पर कवि ने रामायण के सात काण्डों की सूची भी दी है।

मैथिली में राम-काव्य की स्फुट परम्परा का प्रारम्भ महाकवि चन्दा झा कृत 'मिथिला भाषा रामायण से होता है। इस कृति का प्रथम प्रकाशन पं० बलदेव

मिश्र के सम्पादकत्व में राज प्रेस दरभंगा से १९८४ संवत् में हुआ। मूलतः अध्यात्म रामायण पर आधारित यह कृति सात सर्गों में विभक्त है। कवि ने यहाँ अपने पूर्ववर्ती रामायणों का मनन-मन्थन कर उनके विषयों को ग्रहण किया है। आधिकारिक कथावस्तु का प्रस्तुतीकरण, प्रासंगिक कथाओं के चयन और संशोधन, नवीन प्रसंगों की उद्भावना एवं प्रसंगानुकूल सन्दर्भ-नियोजन इस रामायण की रामकथा में मौलिकता का समावेश हो चला है। कथा-चयन एवं संशोधन के उदाहरण के रूप में अहल्या और सुलोचना के प्रसंगों पर ध्यान दिया जा सकता है। कवि चन्दा झा की अहल्या 'अबला-अज्ञानी' है उसे सुरपति की कुमति का बोध नहीं। वह वस्तुतः गौतम वेष-धारी इन्द्र को अपना पति गौतम ही समझती है—

सुरपति कुमति विदित भेत कते न हम अबला अज्ञानी।

(मिथिला भाषा रामायण : पृ० ५१)

यही एक पद अहल्या के समस्त पाप-कलंक को प्रक्षालित कर उन्हें निर्दोष सिद्ध कर देता है। अहल्या के चरित्र का यह अन्तरण अध्यात्म रामायण में भी नहीं है।

मिथिलाभाषा-रामायण में राम का चरित्र प्रधान तो है, किन्तु सीता को भी विशिष्ट स्थान प्राप्त है। यहाँ सीता मात्र राम-पत्नी नहीं अपितु साक्षात् योगमाया स्वरूपा हैं। कवि ने राम-काव्य के प्रणयन में पूर्ववर्ती काव्यों को उपजीव्य के रूप में स्वीकार तो किया है किन्तु मैथिल संस्कार में उसका रूपान्तरण कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। श्रीराम के राज्याभिषेक के प्रसंग में मंगल-पूर्वक सम्पन्न होने की कामना से माता कौशल्या द्वारा की गयी दुर्गा-वन्दना इस तथ्य को स्पष्ट करती है—

से करु देवि दयामयि हे थिर रह महाराज।

पूरिय हमर मनोरथ हे कैकेयी नहि बाज।।
तुअ शंकरि हम किंकरि हे जावत रह देह।
तुअपद कमल नियत रह हे मोर अचल सनेह।।

(मिथिला भाषा रामायण : अयोध्या ६)

इस रामायण में दशरथ-विलाप, राम-वन-गमन के समय प्राणि-मात्र की प्रतिक्रिया, अशोक-वाटिका में सीता-रावण संवाद, सुलोचना के पातिव्रत्य का चमत्कार, राम-रावण-युद्ध आदि का विस्तार से वर्णन है। सम्पूर्ण काव्य में मिथिला के आचार-व्यवहार का समायोजन इसकी अनन्य विशेषता है। मैथिली भाषा में सहज एवं बोध-गम्यता के साथ प्रस्तुति के कारण इसका आस्वादन अल्पशिक्षित व्यक्ति भी कर सकता है। इस काव्य की भाषा-शैली का एक सुन्दर उदाहरण इस रूप में दिया जाता है—

बालहंस कल श्रवण मनोहर एतय कतयसँ आयल।

जनकपुरी युवतीक गमन हित, मानस व्यथित नुकायल।।

(मिथिला भाषा रामायण : बालकाण्ड १)

मैथिली राम-काव्य की परम्परा में महाकवि लालदास विरचित रमेश्वर चरित रामायण भी महत्त्वपूर्ण है। लालदास भी चन्दा झा के समकालिक थे। इस राम-काव्य में सीता के चरित्र को प्रधान रूप से चित्रित किया गया है। कवि ने रामायण के प्रारम्भ में ही लिखा है—

अपनहिं लक्ष्मी त्रिगुणा शक्ति,

करित छथि बन्धन सँ मुक्ति।

मिथिला में जे कयलनि गेह,

तनि प्रति सीता काँ बड़ नेह।।

(रमेश्वर चरित मिथिला रामायण : पृ० २८६)

कवि ने इस काव्य में सीता की महत्ता को स्थापित करते हुए अपने आश्रयदाता महाराज रमेश्वर सिंह के प्रति आदर भाव का प्रदर्शन कर मिथिला की संस्कृति और आचार-व्यवहार को भी उद्घाटित

किया है। रामकथा की प्रस्तुति के क्रम में कवि ने राम के ब्रह्म रूप को स्वीकार किया है तो दूसरी ओर सीता की स्वतन्त्र सत्ता को भी स्थापित किया है। यहाँ सीता आदि-शक्ति-स्वरूपा हैं जिनकी शक्ति से राम अनुप्राणित होकर शक्तिमान् हुए हैं। इस सिद्धान्त को स्थापित करने के लिए कवि ने 'पुष्करकाण्ड' नामक एक पृथक् अध्याय ही जोड़ दिया है। इस काण्ड में दिखाया गया है कि दशमुख रावण की मृत्यु के उपान्त राम के राज्याभिषेक होने पर ऋषि-मुनि राम के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए अनेक प्रकार से स्तुति करते हैं। इस जय-जयकार के बाद सीता को हँसी आ जाती है। ऋषियों द्वारा इसका रहस्य पूछे जाने पर सीता बतलाती हैं कि आप लोगों ने तो दशमुख रावण के वध की प्रशंसा की है; वह तो मृतक के समान था और मृतक को मारकर कोई वीर नहीं कहलाता, इसी बात के स्मरण से मुझे हँसी आ गयी। जो व्यक्ति जीवित रावण को मार देगा, यश-विस्तार तो उन्हीं को होगा—

दशमुख-वध अँह वर्णन कयल।
तेहिमे बहुत प्रशंसा धयल।।
ई रावण छल मृतक शरीर।
मृतक मारि क्यो हो नहिं वीर।।
बूझि पड़ल परिहास समान।
तें हँसलहुँ नहिं कारण आन।।
जे जन जीवित रावण मार।
तनिक कहव थिक यश विस्तार।।

(रमेश्वर चरित मि० रा० : पुष्कर पृ० ३३६)

दशमुख रावण के वध से गर्वित राम जब सहस्रमुख रावण के दमन हेतु उद्यत होते हैं तो वहाँ अपने को असमर्थ पाते हैं; उसके समक्ष वे निरीप-से दिखते हैं। तब सीता अत्यन्त उग्र रूप धारण कर युद्ध-भूमि में उनकी सहायता के लिए पहुँच जाती हैं

और सहस्रमुख रावण के साथ युद्ध कर उसका संहार करती हैं। इस प्रसंग में शक्ति-उपासना की काली के स्वरूप के साथ सीता का तादात्म्य प्रस्तुत किया गया है। यह राम-कथा के मैथिलीकरण का एक अन्यतम उदाहरण है। इस रामायण में सीता-वनवास, लव-कुश-प्रसंग, तथा सीता का पृथ्वी के गर्भ में प्रवेश की कथा नहीं है। सीता के साथ श्रीराम द्वारा ग्यारह हजार वर्षों तक अखण्ड राज्य करने की कल्पना यहाँ की गयी है—

रामो सीता सहित समाज।
लगला करय अकंटक राज।।
कयल कतेक यज्ञादिक दान।
सतत प्रजा काँ सुख कल्यान।।
सहस एकादस वत्सर राम।
कयल अखंड राज गुणधाम।।

ऋषि-मुनियों द्वारा सीता की स्तुति इस काव्य का अन्यतम प्रसंग है, जिसमें उन्हें आदि शक्ति के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया है—

थिकहुँ जानकि अखिल रूपिणि ब्रह्म निर्मल रूप।
आदि अन्त न कतहुँ अपनेक शुद्ध सत्त्व स्वरूप।।

सृष्टि पालन नाश कारिणि अँहिक संज्ञा काल।
भक्ति सँ हम सतत अवनत प्रणत पद में 'लाल'।।

अन्त में प्रसन्न होकर सीता देवों को वरदान देती हैं। यह वरदान-प्रसंग दुर्गासप्तशती के एकादश अध्याय से अनुप्राणित है, जहाँ दुर्गा दुष्टों के निवारण के लिए बार बार अवतरित होने का आश्वासन देवताओं को देती है। यहाँ सीता का वरदान है—

एखन जाउ सब निज-निज लोक।
हमर भजन के रहु निशशोक।।
रिपु कृत जखन जखन हो कष्ट।
स्मरणहिं हम कय देव विनष्ट।।

राम-कथा की परम्परा में यह कल्पना अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

लालदास कृत उक्त रामायण में तत्कालीन मिथिला में प्रचलित आचार-विचार-व्यवहार के अन्तर्गत कुमारी-पूजा, गौरी-पूजा, विवाह के अवसर पर किया गया 'परिच्छनि', गोत्राध्याय, विधिकरी, महुअक, डहकन, समदाउनि, द्विरागमन आदि का विशद वर्णन हुआ है। इस प्रसंग में बालकाण्ड का वैवाहिक प्रसंग द्रष्टव्य है, जहाँ मिथिला की नारियाँ कौतुकागार में हास्य करने लगती हैं। यहाँ बेचारे 'विपटा' (विदूषक) का दर्द लोगों को हँसने के लिए बाध्य कर देता है। उसका रोना यही है कि महाराज दशरथ बड़े कंजूस ठहरे। चार बेटों का विवाह एक बार ही करा दिया, ताकि एक बार ही भोज देना पड़े—

चारि बेर खैतहुँ जे भोज।

पबितहुँ दान होइत नहिँ ओज।।

खर्चक डरें अवध महाराज।

कयल एकहि बेर चारू काज।।

मैथिली राम-काव्य की परम्परा में पं० तेजनाथ झा द्वारा प्रस्तुत 'राम-जन्म' काव्य का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। मैथिली में कृष्ण-भक्ति की परम्परा में महत्त्वपूर्ण काव्य मनबोध के कृष्णजन्म के अनुकरण पर पं० झा द्वारा विरचित इस कृति में कवि ने अयोध्या में चारों भाइयों के जन्म समय की विभिन्न झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं।

इस राम काव्य की परम्परा की एक सशक्त कृति है कविवर सीताराम झा कृत 'अम्बचरित'। इसके आरम्भ में इन्होंने इसे सीता का चरित माना है—

रामायण बहु विध निरखि समटि ततय सँ सार।

सुजन हृदय सुख हेतु तें निजबुद्धिक अनुसार।।

कयल लिखल अभिलाष मन सुरवर मुनिगण-गीता।

जगजननी श्री जानकी-जीवन-चरित-पुनीत।।

(अम्बचरित : प्रथम सर्ग ५१)

सीता-भक्ति से अनुप्राणित होकर ही इस महाकाव्य का नामकरण अम्बचरित किया गया है। इस प्रकार कवि ने सीता के चरित को इसमें अधिक विस्तार दिया है। इसका आरम्भ सीता के जीवन वृत्तान्त से होता है। यहाँ सीता के बाल्यावस्था का मनमोहक चित्रण के क्रम में कवि ने दिखलाया है कि जिस जगज्जननी जानकी की कृपा से जगत् चालित है उसी जानकी की माँ सुनयना अँगुली पकड़ कर 'दिग दिग थैया' और 'चलु चलु मुनियाँ दैया' कहकर भूमि पर चलना सिखा रही है। बालिका सीता के वाणी-स्फुरण का उल्लेख, माता सुनयना के निकट बैठकर पढ़ने-लिखने के साथ घर के सारे काम-काज सीखने का मनोहारी वर्णन यहाँ किया गया है—

टकुरी, चरखा, सिबिया बुनिया,

ऐपन, पुरहर, कुटिया पिसिया।

खोपा खोपी जूड़ा बान्हव,

दालि-भात, तरकारी रान्हव।।

(रमेश्वर चरित मिथिला रामायण : ४।३८)

यहाँ कवि की सीता कहीं भी अलौकिक नहीं दिखती। सामान्य मैथिली ललना की तरह अनुकूल पति की प्राप्ति के लिए गौरी-पूजन करती है—

माइक अनुमति नियम बनायव,

हम गौरिक पद पूजि मनायव।

ई कहि सीता सहित सहेली,

तुरत हाथ मुँह धोय नहेली।

फूल लोढ़ि अरहूल चमेली,

कमल गुलाब विल्वदल बेली।

साधि विविध नैवेद्यक डाली,

चललि सुमरि हृदय श्री काली।

संग अनेक सखी अलवेली,

श्रीगिरिजा मन्दिर सब गेली।

इस गौरी पूजन के उपरान्त आकाशवाणी

होती है— 'पुरत मनक अभिलाष, होयब जगत्मे धन्या अहाँ। सीता-राम के विवाह के समय जब बारात जनक-पुर पहुँचती है तो यह दृश्य देखने को मिलता है—

काछुक खपलोइयामे लेसल दीपक सरिसब तेलक।
ठक, बक, भाररि आदि परीक्षण सामग्री सब भेललक।
डाला साजि सुनैत विप्रजन मुख में वेद क वाणी।
चलली परिछनि करय वरक निज सखी सहित अधिरानी।

ससुराल जाती सीता की 'उचिती' कितना मार्मिक है, इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है। सीता माँ सुनयना से कहतीं हैं कि कितने कष्ट उठा कर तुमने मुझे पाला-पोसा; हमेशा अपने शरीर से ही लगाकर मुझे रखा। कभी कहीं जाने भी न देती थी। पर आज मैं तेरे लिए बला हो गयी हूँ जो मुझे अपने पास से भगा रही हो—

माय अँही लग छलहुँ जनम सँ बेटी अँहक कहाय।
अँही कष्ट सहि पोसि बढ़ओल सब दिन छलहुँ सहाय।।
कहियो कतहु जाय नहि देलहुँ राखल देह लगाय।
फेकि रहल छी कतय आइ? की हम भेलहुँ बलाय।।

इस प्रकार उक्त महाकाव्य में भी सीता के परिप्रेक्ष्य में ही राम के चरित्र को देखा गया है।

पं० जीवनाथ झा विरचित 'रावण-वध' महाकाव्य राम-कथा की इस परम्परा की एक अनुपम कड़ी है। राम-कथा में राम-रावण-युद्ध के संवेदनशील प्रसंग को आधार बनाकर प्रस्तुत इस कृति की सबसे बड़ी विशेषता है कि कवि ने यहाँ घटनाओं का मार्मिक और सजीव वर्णन किया है। इस युद्ध के क्रम में लक्ष्मण के अचेत हो जाने पर जो परिस्थिति बनी उसका मार्मिक चित्रण कवि ने किया है—

जे अनुगत दिन-राति मम छाया सदृश अपार।
हा! नहि तनिक निवाहि हम सकलहुँ असुहुक भार।।
हमर हेतु जे प्राण तक समर-भूमि में देल।

हमरा सँ हे दैव! सुखक तनिक न लघुओ भेल।।
धिक! मम जे स्त्री हेतु कय प्रिय बन्धुक असु नाश।
माता की कहतीह सुनि वज्रपात वृत्तान्त।।

उक्त काव्य में नाटकीयता का सुन्दर समायोजन है। कवि की मौलिक कल्पना कोई खास नहीं दिखती, पर सम्पूर्ण काव्य की प्रस्तुति की शैली आकर्षक है।

इसी मैथिली राम-काव्य परम्परा में श्री वैद्यनाथ मल्लिक 'विधु' विरचित 'सीतायन' महाकाव्य इक स्तम्भ के रूप में स्थापित है। यहाँ सीता को लक्ष्मी के रूप में स्थापित करते हुए कवि ने कहा है— सीता सर्वथा पवित्र रमा थिकि पाप-शून्य...। इस महाकाव्य में भी सा का चरित्र प्रधान है। साथ ही यहाँ सीता समस्त स्त्री-जाति का प्रतिनिधित्व करतीं हैं। यहाँ सीता को उद्भव, स्थिति और संहार के कारण के रूप में स्वीकार किया गया है, जहाँ सीता और राम में कोई भेद नहीं रह जाता है।

उद्भव स्थिति संहार कारण
एहि परम सृष्टि उद्यानक हेतु।
अद्वैत अहाँ सीता सँगे
शुभ तत्त्व ज्ञान दर्शन पुनीत।
संसारी सभ केर दोष-दृष्टि।।

राम सर्वदा सीता के हृदय में वर्तमान हैं— हे राम अहाँ जानकी-हृदयवासी सदैव। कवि ने इस महाकाव्य में लंकाधिपति रावण पर विजय का श्रेय राम को न देकर सीता के पातिव्रत्य-महिमा से ही इसकी सम्भावना का प्रतिपादन किया है—

धन्या तँ सीता थिकथि ,
अहूँ सँ बेसी ई इतिहास कहल आगू।
दिन-दिन जनिके पतिव्रतक
बल सँ कयलहुँ लंका मे प्रभु महाविजय।।

इस काव्य की एक अन्य विशेषता है कि इसमें स्तरीय पात्रों के चरित्र-चित्रण पर विशेष ध्यान दिया गया है। सीता चरित्र को स्थापित करने के साथ ही कवि ने रामायण के अन्य नारी-पात्रों की महत्ता को भी उभारा गया है। सुधन्वा को पराजित कर जब राजा जनक विजयोल्लास में सभा का आयोजन करते हैं, तब वहाँ ऋषि-मुनियों के साथ विदुषी मैत्रेयी, कात्यायनी, महागार्गी, अमला, अनसूया एवं सुखदा के साथ-साथ सीता अपनी बहनों - उर्मिला, माण्डवी और श्रुति कीर्ति के साथ विराजमान दिखती हैं।

पं० विश्वनाथ झा 'विषपायी' कृत 'रामसुयश-सागर' मैथिली राम-कथा की परम्परा का अन्यतम ग्रन्थ है। वाल्मीकीय रामायण को उपजीव्य बनाकर कवि ने यहाँ राम-भक्ति को उद्घाटित किया है। मैथिली राम-काव्यों में एक मात्र यह कृति है, जिसमें राम के चरित्र को केन्द्र में रखा गया है। कवि आरम्भ में ही कहते हैं—

रामक गुन गौलहुँ सदा जतय ततय सँ आनि।

सबखन लडू होय मिठ नहिं टेढ़क किल्लु मानि।।

कवि ने इस कृति में राम को अन्तरराष्ट्रीय मानव के रूप में स्थापित किया है। मिथिला की लोक भाषा में प्रणीत यह काव्य स्वाभाविक लालित्य की भी दृष्टि से अधिक समृद्ध नहीं है, किन्तु इसमें विचार की दृष्टि से की नवीन उद्भावनायें हैं। कवि ने वन-गमन के लिए सीता का हठ तथा लक्ष्मण का पिता के प्रति क्रोध को अनुचित ठहराया है। राम-वन-गमन के समय दशरथ के शोक का मार्मिक चित्रण इस काव्य में हुआ है—

शोक व्यथित राजाक तन, वृग में लागय आन।

पीयर कलहा रक्त-रहित जेना प्रभातक चान।।

इस परम्परा में कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर विरचित 'सीता' महाकाव्य का भी विशिष्ट स्थान है। कवि ने यहाँ सीता के जन्म से किशोरावस्था तक की समस्त क्रीड़ाओं एवं चेष्टाओं का सूक्ष्म एवं सुन्दर वर्णन किया है, जो एतद्विषयक अन्य काव्य में दृष्टिगोचर नहीं होता है। सीता के विवाह के समय की कुछ घटनाओं की नूतन परिकल्पना कवि ने की है, जहाँ एक मैथिली ललना के रूप में सीता का साधारणीकरण हुआ है और कवि ने स्वयं को कन्यागत पक्ष का माना है। वस्तुतः सीता के चरित्र चित्रण में मैथिल कवियों की यह सामान्य अवधारणा है और यह सीता के मायके में जन्म लेने का गौरव-बोध है।

सीता के द्विरागमन के समय महाराज दशरथ किसी बात पर कुपित हो जाते हैं। वर-पक्ष के जो ठहरे! वे मिथिलावासियों को राक्षस हो जाने का शाप देते हैं। बस! सीता क्षुब्ध हो जाती है, उनकी पालकी उठती ही नहीं। बत्तीस कहार जोर लगाते हैं; पर सब व्यर्थ। अन्त में श्रीराम सीताजी से अनुरोध करते हैं; महाराज दशरथ के शाप का परिहार करते हैं; रूठी सीताजी को मनाते हैं, तब जाकर डोली उठती है। यह सीता की महिमा है।

राम ससुराल में हैं तो गाली क्यों न सुनें! और दशरथजी भी तो समधी ठहरे! उन्हें क्यों कोई छोड़े भला! गालियों की बौछार पर राम भी मन ही मन सोचते हैं—

बाप माय के गारि सुनाओत से जँ बुझितौं पहिने।

हम नहिं एहन झंझट में पड़ितहुँ गुरू तुरू के कहने।।

इस काव्य में सीता की विदाई का मार्मिक वर्णन हुआ है। सीता के आँचल में धान, हल्दी की गाँठ और सुपारी के साथ सोने बँधे हैं। सीता के मन में मलाल है कि इस 'खोंड़छ' में दिये गये धान के रूप में हमारे पीहर की लक्ष्मी भी बँधकर कहीं मेरी

ससुराल न चली जाए और मेरे लौटे विना वह भी न लौटे। इसलिए वह अपनी 'खोंइछ' को खोलकर धान को मुट्टी में भर रास्ते में बिखेरती चलती है। मिथिला की लोक-कथा है कि यहीं धान आज भी मिथिला में उपजते हैं। यह लोक-ब्यवहार आज भी यहाँ प्रचलित है।

मैथिली राम काव्य की परम्परा में कविवर रमाकान्त की 'ब्यथा' नामक काव्य का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। सीता-चरित्र को केन्द्र में रखकर इस काव्य में उसे आदि से अन्त तक कष्टमय दिखाते हुए उसे ओक शब्द में व्यथा की संज्ञा दी गयी है।

इसी प्रकीर स्व० कर्मनाथ चौधरी कृत 'संक्षिप्त मैथिली रामायण' भी उपलब्ध है। इसमें पूर्ववर्ती रामायण को ही मैथिली भाषा में सरल सरस ढंग से उपस्थापित किया गया है।

इसी प्रकार 'मैथिली बाल रामायण' लिखकर कवि भुवनेश्वर प्रसाद ने रामायण की मुख्य कथा को मैथिली भाषा में समेटने का प्रयास किया है।

पं० सीतानाथ झा कृत 'मैथिली रामायण' की चर्चा भी इस क्रम में की जाती है। चूँकि पं० झा मूलतः संस्कृत भाषा के विद्वान् थे अतः स्वाभाविक रूप से उनकी इस कृति में प्राचीन महाकाव्यात्मक वर्णन की शैली दृष्टिगोचर होती है। महाकाव्य के शास्त्रोक्त लक्षणों के निर्वाह पर कवि ने पर्याप्त ध्यान दिया है। संस्कृतनिष्ठ मैथिली भाषा में लिखित इस कृति का साहित्यिक, कलात्मक एवं धार्मिक महत्त्व है।

इसी परम्परा में श्रीमती श्यामा देवी रचित 'मैथिली रामायण' (अप्रकाशित) भी उत्साहवर्द्धक है। एक महिला द्वारा रचित होने के कारण यह मैथिली रामकाव्य की परम्परा में महत्त्वपूर्ण है।

इस परम्परा में राजलक्ष्मी जी द्वारा रचित 'विभीषण शरणापन्न' नामक ग्रन्थ की भी चर्चा अपेक्षित है। राम-भक्ति से ओत-प्रोत इस ग्रन्थ में रामभक्ति

परायण विभीषण, भरत, सुग्रीव, तथा काक भुशुण्डी का चरित वर्णित है। गद्य में लिखित होने पर भी इसकी भाषा में एक विशेष आकर्षण है, सहजता एवं सरलता है, जिससे अल्पशिक्षित लोग भी इस राम-भक्ति की सरिता में डुबकी लगा सकता है।

मैथिली रामभक्ति -परम्परा का एक समृद्ध स्रोत लोक-काव्य एवं स्फुट काव्य की परम्परा भी है। वस्तुतः मैथिली में राम-काव्य की प्रारम्भिक स्वरूप ही लोक-काव्य में मिलता है। इस क्रम में प्राचीन कवि 'विष्णुपुरी' (१४५०-५१०० ई०) विरचित राम-विषयक अनेक पद अमूल्य धरोहर हैं। इसी क्रम में पन्द्रहवीं शदी में आसाम के कवि शंकरदेव की कृति 'राम विजय' अंकिया नाटक का भी महत्त्व है। भारत-भ्रमण के क्रम में कवि ने मिथिला में प्रचलित विभिन्न प्रकार के नाटकों के आधार पर ही इसकी रचना की है। इसमें कवि ने आसामी से प्रभावित मैथिली भाषा का प्रयोग किया है। राम-कथा से सम्बन्धित जो घटनाएँ मिथिला में घटी थी, कवि ने उनका वर्णन गद्य एवं पद्य में किया है। धनुर्भंग के समय का एक मर्णन द्रष्टव्य है—

हा हा हमार स्वामी परम सुकुमार नवीन वयस।
वज्राधिक कठिन महेश क धनु, इहान गुणादिते स्वामी जानो नहिं पारय।
हा हा पिता दारुण कर्म कयल।

उन्नीसवीं शती के आरम्भमें मैथिली लोक-गीतों में राम-भक्ति की धारा प्रचुर रूप में प्रवहमान हुई है। इसी काल में इस परम्परा में लक्ष्मीनाथ गोसाँई, साहेब रामदास, अजूबादास-जैसे साधु-सन्तों के आविर्भाव के साथ ही यह परम्परा एक पन्थ के रूप में मिथिला में स्फुट हुई, जो आगे चलकर रामाश्रयी वैष्णव सम्प्रदाय की मधुरा भक्ति-शाखा के रूप में विद्यमान है। इस परम्परा में अनेक भक्त

मणिमुक्तामय कोबर हे लय ताहि घर जाउ ।।
केसरि रोचन चन्दन हे प्रभु भाल चढ़ाउ ।।
विकसित पंकज लोचन हे सखि काजर लगाउ ।।
बहु व्यंजन खिर खटरस हे तनि भोजन कराउ ।।
पान सुपारी सुवासित हे भरि पत्र मँगाउ ।।

मिथिला के संस्कार गीतों में भी राम-भक्ति की प्रचुरता प्राचीन काल से रही है। विभिन्न संस्कारों के अवसर पर नारी कण्ठ से गाये गये ये गीत कर्मकाण्ड में विनियुक्त मन्त्रों से कम महत्त्व नहीं रखते। ये गीत किस काल खण्ड में और कहाँ लिखे गये तथा इनके कवि कौन थे यह कहना भी कठिन है। इस परम्परा में भीराम और सीता को केन्द्र में रखकर गाये गये कई पद उपलब्ध होते हैं, जो आज पृथक् रूप से गवेषणीय हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मैथिली भाषा के उद्भव काल से ही इस भाषा में राम-काव्य की परम्परा किसी न किसी रूप में विद्यमान रही है।

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
एम० एल० एस० एम० कालेज
दरभंगा

v

ई कि 'गुण नानन्द' तनु मारामा हडाम । एहु गिक
—ई एउह अँपनीं

। नाए लएक कंनं लामा ककुकि गिक लनीए लए
।। नाए कनगिह धीइलु गिआमए कं गिआए कनक
। गाम्भ नगए एउए, गधुए एलई गिक कं एए
।। गाम्भ लई डीमहडी लामा डीमामह डीह गधुं
। गालुगामि में एएएए एउ गि में लक कनिगुआए
ककए एणएगए, गालुएक, गालुमिर्न, डीनिमए, गालुडमि
-माए लनीए एगह अँपनीक कक डीह 'लामामिह'
कं गालु गाम्भए । ई लुमीर एए कएएगि गक
कि गालु में लिई कि गधाम्कालि में मार एउएकम
एलुएए गिलीगुणए कि एक कए कएएगि-गधाम
लामामिर्न गक में नडि नडीकि कं एकु-क मंमघी, ई
गकी लोए क कमीह एनए कि गालु में नन
। ई 'गधाम डिईई' मार क एक एउ । ई गए
तनु मार लाल एकुई में एएएए मिइ
एएएए-गालु गक 'नकिंमं-मन-मामामिर्न'
एउएए कए मिइ । ई अँपनीकु एउए 'नकिंमं
—ई एउह

। गालुइ एअं एगी ई नहुए एरी लामाए
।। गालु में एडी एए ! ई एएए नडी नहुए न ए
। गालु नमाम एगी ई लक लमही गीएए एए

वयमिह परितुष्टाः वल्कलैरत्त्वं दुकूलैः

सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।

स हि भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला

मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ।।

तुम्हें तुम्हारा रेशम का दुपट्टा मुबारक! मैं तो इस कथा में ही सन्तुष्ट हूँ। एक समान ही दोनों का सन्तोष है तब भला दोनों में अन्तर क्या? दरिद्र तो वह है, जिसकी चाहत बहुत बड़ी है। मन सन्तुष्ट है तो कौन धनी और कौन दरिद्र?

—भर्तृहरि

श्री अरविन्द : सावित्री एवं प्रकृति

प्रो० श्री कान्त प्रसून

यह योगवासिष्ठ की अवधारणा है कि जब हम विश्व को सही परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तब यह आत्म स्वरूप होता है और परम सुख देता है, किन्तु जब इसे हम नकारात्मक भाव से देखते हैं तब यह दुःख का आगार और क्लेश का कारण दीखता है। श्री अरविन्द का महाकाव्य 'सावित्री' संसार को आत्म-स्वरूप में देखता है और पीड़ा से मुक्त रहता है। सर्वात्मबोध के कारण इसकी नायिका सावित्री दृढ़ रहती है और सफल होती है।

सावित्री महल में कम प्रकृति के सांनिध्य में सर्वाधिक रही है।

दिव्य-रात्रि के सभी प्रहर में वह प्रकृति के साथ रहती है, कभी अकेली, इच्छित और लिखित पुरुष की खोज में कशीदों वाले रथ (Carven car) पर सँवार विश्व-भ्रमण करती हुई, कभी सत्यवान के साथ जंगल में भटकती हुई, कभी मृत्यु के पीछे-पीछे अनन्तता की ओर जाती हुई। वह भोर की ताजगी और उमंग साँसों में भरती है, दुपहर की कठोरता ग्रहण करती है और गोधूलि की मृदुलता का पान करती है। वह व्योम की दीप्ति, क्षितिज की आस व्याप्ति, वायु की निरपेक्ष स्वच्छता जल की तृप्ति,

तरलता और धरती का अनुपम वात्सल्य ग्रहण करती चलती है। उसकी यात्राएँ सभी ऋतुओं में होती हैं, अतः वह शरीर सौष्ठव में प्रदीप्त और आध्यात्मिक आलोक से चमकती रहती है। इसमें उसमें सन्तुलन, स्थिरता कुशलता और लचीलापन सभी का पूर्ण

विकास होता है। वायु की ताजगी प्राकृतिक, प्रकाश, सहज सांगीतिक धनियाँ मृदुल दृश्यावली और भिन्न-भिन्न गन्ध-सुगन्ध व्यक्तित्व को एक विशिष्टता देते हैं, जो चेता के ऊर्ध्वमुखी प्रवाह को लयात्मक उठान देती है। इस सन्दर्भ में अन्य स्थानों के अतिरिक्त 'सावित्री' पाँचवें भाग के प्रथम काण्ड का पाठ अधिक समीचीन होगा, जहाँ सत्यवान से मिलने के

गूढ़ दार्शनिक विषयों का आलम्बन कर काव्य रचना की परम्परा संस्कृत में भी रही है। कृष्णमिश्र का 'प्रबोधचन्द्रोदय' एवं महामहोपाध्याय गोकुलनाथ का 'अमृतोदय' नाटक इस विधा के प्रसिद्ध काव्य हैं। इसी परम्परा में आधुनिक काल के महर्षि अरविन्द की अंगरेजी कृति 'सावित्री' महाकाव्य भारतीय अंगरेजी साहित्य की महान् कृति है। भारतीय वेदान्त दर्शन को रूपक के माध्यम से अंगरेजी भाषा में प्रस्तुति के कारण उसकी गूढ़ता सर्वविदित है। इस महाकाव्य में प्रकृति के स्वरूप की विवेचना कर रहे हैं अंगरेजी के विद्वान् प्रो० श्रीकान्त प्रसून।

पूर्व की प्राकृतिक अवस्था का अतिसूक्ष्म विषयासक्त वर्णन भी अरविन्द ने किया है—

*To a place she came so soft and delicate air
That seemed a sanctuary of youth and joy.
A highland world of free and green delight
Where spring and summer lay together and strove.
In indolent and amicable debate,
Inarmed, disputing with laughter who should*

सावित्री : ५। ३८६

गरिमामयी प्रकृति की प्रभावशाली विविधता

जानी-मापी-तौली नहीं जा सकती। किनारों से कछारों से डरों से पगडंडियों से गुजरते हुए ही इतना कुछ प्राप्त हो जाता है कि बहुत सारे प्रकृति प्रेमी भी धर में मध्य में, झंखाड़ में न जाते हैं और न उसके वैभव का अंदाज ही कर पाते हैं। श्री अरविन्द ने सावित्री की विभिन्न यात्राओं में अवसर निकालकर प्रकृति का मिश्रित चित्र प्रस्तुत किया है— स्थूल, सूक्ष्म, सामान्य, असाधारण और सावित्री पर उसका प्रभाव भी दिखलाया है, इसमें कवि का, सावित्री का और प्रकृति का पूर्ण तादात्म्य स्थापित हुआ है। ऐसी सचेतनता आकांक्षा से अधिक आनन्द, सुख, शान्ति और शक्ति देती है। पक्षियों के वर्णन से धरती और स्वर्ग के प्रेम को आकाशीय नीलिमा से खोला गया है—

*The white crane stood, a vivid motion less streak
Peacock and parrot jewelled soil and tree.*

*The dove's soft moan enriched the enamoured air
And fire-winged wild drakes swam in silvery pools.*

*Earth couched alone with her great lover heaven.
Uncovered to her concert's azure eye.*

सावित्री : ५। ३६०

सूर्य की पुत्री सावित्री सूर्य की रश्मियों से ही शक्ति नहीं लेती, बयार के झोंकों और वर्षा की फुहारों से भी परितृप्त होती है। हर पहर में ही नहीं, वह हर मौसम में यात्रा कर जाती है और इसी क्रम में जन्म, विकास, मृत्यु, विनाश और पुनर्जन्म आदि के आन्तरिक तथ्यों से पुनः परिचित भी हो जाती है। मानवी बन जनमने के बाद जो ज्ञान समाप्त हो गया था, वह उसे पुनः प्राप्त हो जाता है। उसकी आत्मा केवल प्रकृति से ही नहीं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से अपने को जोड़ना चाहती है, और अपनी इस चाहत में सफल भी होती है। सागर की लहरें जहाँ धरती से मिलता है वहीं आकाश झुक जाता है। यह मिलन गतिशीलता, जड़ की स्थिरता और ऊपरी सन्तुलन का प्रशिक्षण दे जाता है। चोटियों की उत्तेजना और अन्तहीन जंगल की दानवी फुसफुसाहट आकाश में विलीन हो जाती है—

The passion of the summits lost in heaven.

The titan murmur of the endless wood.

आशा डैने फैलाकर फड़फड़ाती है, जैसे कि

कोई आत्मा धरती के चेहरे से बाहर झाँकती हो। सावित्री के अन्तःकरण में एक परिवर्तन होता है। वह सामान्य सपने और स्पष्ट आनन्द को भुला देती है समय की पुकार और आत्मा की गति का पालन आज्ञाकारिणी-सी करती है, जो अनन्तता की नजरों के नीचे परवान चढ़ता है, उस शान्त और शुद्ध सौन्दर्य तक पहुँच जाती है—

Obedient to time's call, to the spirits fate

was lifted to a beauty calm and pure

That lived under the eyes of Eternity.

सावित्री : ५। ३६६

जहाँ ढेर पहाड़ों के सिर आकाश पर आक्रमण कर रहे थे; प्रतिद्वन्द्वियों से कन्धे रगड़ते स्वर्ग तक पहुँच रहे थे, वे लौह-शृंखला के सुसज्जित सेनापति लग रहे थे, उनके पथरीले पाँवों में धरती लेटी हुई बिछी थी—

A crowd of mountainous heads assailed the sky

Pushing towards rival shoulders nearer heaven.

The armoured leaders of an iron line.

Earth prostrate beneath their feet of stone.

सावित्री : ५। २८६

सावित्री गतिशील है; स्थिर बैठी हुई भी अन्तर-यात्रा करती है। प्रकृति भी स्थिर दिखती हुई भी सदा गतिशील है, सदैव कर्मरत। प्रकृति के सभी कार्य प्रत्यक्ष-परोक्ष निरन्तर चलते रहते हैं। जन्म-विकास-मृत्यु होती रहती है। सावित्री भी पूर्णता की ओर अग्रसर हो रही है।

श्री अरविन्द ने सावित्री के बाह्य एवं आन्तरिक यात्राओं के अनुरूप ही प्रकृति का चित्रण किया है। सावित्री के मनोभावों से चित्रित प्रकृति के रूप-रस-रंग-गन्ध-गति का तालमेल है। सावित्री असामान्य है, इसलिए इस महाकाव्य में प्रकृति भी असामान्य है।

आध्यात्मिक जगत् की तरह यह प्रकृति भी विचित्र है, उसमें भी आध्यात्मिक दृश्य दिखते हैं। सात्मा के स्थान से झीलों, झरनों और पहाड़ियों का सौन्दर्य बहता है। आत्मानन्द सी मिट्टी और घाटियाँ फैली रहती है। आत्मा की पुष्प-पंक्ति सा बगीचा

आनन्दोत्कर्ष में चिन्तन करता रहता है औरशुद्ध
अनन्तता की साँसों-सी हवा बहती है—

*There was a strange spiritual scenery,
A loveliness of lakes and streams and hills,
A floe, a fixity in a soul-space,
And plains and valleys, stretches of soul-joy,
And gardens that were flower-treats of the spirit,
Its meditations of tinged reverie.
Air was the breath of a pure infinite*

सावित्री : २।२६२

पृथ्वी, आकाश, विश्व, ब्रह्माण्ड, तथा सूर्य
की चर्चा श्री अरविन्द ने अधिक की है। सागर,
जंगल पहाड़, पक्षी, नदियाँ अपना रूप- सौन्दर्य और
गुण-गन्ध बिखेरती है। पशुओं का उल्लेख न्यून है।
ऊँचाई और अनन्तता का बोध करानेवाले तत्त्वों की
अधिकता है। निम्न गुणों और निम्नगामी प्रवृत्तियों
की चर्चा थोड़ी नरक या नरक-जैसे लघु दृश्यों में
आयी है। शेष विशालता और व्यापकता है। जिस
भाव की अभिव्यक्ति श्री अरविन्द का इष्ट है, उसमें
ऊँचाई है, फलतः उनके वर्णनों में भी उसी तरह के
दृश्यों की अधिकता है। जहाँ भी जितनी भी प्रकृति
चित्रित हुई है, अपने प्रखर और उदात्त रूप में ही
हुई है। सावित्री से उस प्राकृतिक उदात्तता और
प्रखरता का साम्य है। सावित्री में और श्री अरविन्द
द्वारा वर्णित प्रकृति में यहीं साम्य है कि दोनों भाव
लोक एक-सा प्रकाशित और दीप्त है और दोनों ही
शक्ति के शाश्वत गुणों के अजस्र स्रोत हैं। सावित्री
और सत्यवान् का जहाँ प्रसन्न और अपरिवर्तित घर
है, उस जंगल में हजारों आवाजें हैं और पत्तियों में
हवा की फुसफुसाहट है, दरों के बीच से सान्ध्य
आकाश का मरकत मणि (पन्ना) सा दृश्य ईश्वरीय
वितान है, जो हमारे जीवन का अन्तिम रक्षक है और
जहाँ एक मात्र हमारे शासन के पंखवाले कवि— ये
पक्षी हार्दिक आनन्द के लिए चहचहाते हैं—

*Our home, this forest with its thousand cries
And the whisper of the wind among the leaves
And through rifts in emerald scene, the evening sky,
Gods canopy of blue sheltering our lives,*

*And the birds crying for hearts's happiness
Winged poets of our solitary reign*

सावित्री : १२।७१८

श्री अरविन्द ने प्रकृति का परम्परागत सौन्दर्य-
वर्णन नहीं किया है। उनके श्रेष्ठ भावों के अनुरूप ही
उनकी प्रकृति श्रेष्ठता विकीर्ण करती है। वहाँ मुक्ति
के चन्द्र-शिखर (Moon-peaks of bliss) हैं। वहाँ के
प्रकाश में स्वर्गिक आकर्षण है (In the glows of heav-
enly charm); अपने सौन्दर्य में उनकी वस्ती चिन्तामुक्त
हो आत्मा को शक्ति और शान्ति का गान सुनाती है।

*Earth in this beautiful refuge cares
Murmured to the soul a song of strength and peace.*

सावित्री : ५।३६२

यह प्रकृति जीव और देवों का स्वर्ग है—The
paradise of the Life-Gods. यह आनन्द के दैवी
आदेशों का यथावत् पालन करती है। यह सौन्दर्य का
भण्डार और वरदान है। भीड़-भरे मैदानों में चमकृत
कर देनेवाली शान्ति होती है। पहाड़ और बैगनी रंग
के वरदान से युक्त घाटियाँ होती है। आनन्द की
गहरी कन्दराएँ, भुनभुनाते झरने और कम्पित करनेवाली
नील-लोहित एकान्तता वाले जंगल रतनों की चमक
लिए विचारों-से नीचे पड़े रहते हैं—

*To meet him crowded plains of brilliant calm,
Mountains and violet Valleys of the Blest,
Deep glens of joy crooning waterfalls
And woods of quivering purple solitude,
Below him lay like gleaming jewelled thoughts*

सावित्री : ५।२३४

ब्रह्माण्ड और सृष्टि से प्रकृति का सीधा सम्बन्ध
है। सावित्री की भाँति वह शक्ति है और शक्ति
दात्री है। इसी रूप और सन्दर्भ में 'सावित्री' महाकाव्य
में इसका चित्रण हुआ है।

सोलोमन काम्प्लेक्स, मोतिहारी - ८४५४०१

प्रकृति, विकृति एवं पर्यावरण

प्रो० रामविलास चौधरी

प्रकृति के साथ मानव का अविच्छिन्न सम्बन्ध पुरातन काल से रहा है। आदि मानव जब पृथ्वी पर आया तो प्रकृति के बीच ही उसने अपने को पाया। इस संसार में उसके आगमन से पूर्व ही प्रकृतिगत

पञ्चतत्त्वों से पृथ्वी, आकाश, वायु, हवा और जल की सृष्टि हो चुकी थी। इन पञ्चतत्त्वों के मूल तथा उत्पत्ति-क्रम का विवेचन करते ह ए तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है—

‘एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः वायोरग्निः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः।’

भाव यह है कि सृष्टि का आरम्भ सबके आत्मा अन्तर्यामी-परमात्मा से हुआ। उस परमात्मा से आकाश तत्त्व पहले उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु-तत्त्व, वायु से अग्नि-तत्त्व, अग्नि से जल तत्त्व और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। पृथ्वी से नाना प्रकार की औषधियाँ अनाज के पौधे उत्पन्न हुए तथा औषधियों से मनुष्य का आहार-अन्न उत्पन्न हुआ। उस अन्न से यह स्थूल मनुष्य शरीररूप पुरुष की उत्पत्ति हुई।

इस विवरण के अनेक तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है—(१) आत्म-तत्त्व या परमात्मा ही इस सृष्टि का मूल है। उसी से भौतिक तत्त्वों की उत्पत्ति हुई है।

(२) पञ्चतत्त्वों में सबसे पहले आकाश ही उस परमात्मा से आविर्भूत हुआ। उस आकाश से अग्नि आदि तत्त्वों की क्रमशः उत्पत्ति हुई है। (३) पञ्चतत्त्वों

में सबसे अन्त

में पृथ्वी की रचना हुई।

(४) सांसारिक प्राणियों में सबसे पहले मनुष्य का आविर्भाव हुआ। (५)

मनुष्य की उत्पत्ति से पूर्व ही मनुष्य-

जीवन के लिए अनिवार्य पञ्चतत्त्वों के साथ जीवन-रक्षक ओषधियों और प्राणभूत अन्न। (अन्नं ह प्राणः) की भी रचना हो चुकी थी।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि उपनिषद् में सबसे पहले आकाश की और उसके बाद वायु की उत्पत्ति बतायी गई है, किन्तु महर्षि मनु ने सबसे पहले जल की सृष्टि का उल्लेख किया है—

‘अप एव ससर्जादौ’ (मनुस्मृति १,८)

संस्कृत के कविकुलगुरु कालिदास भी मनु के मत का समर्थन करते हुए कहते हैं—

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिदुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यथा प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरिशः।।

(अभिज्ञानशाकुन्तल-१,१)

पञ्चतत्त्वों की पूर्वापर रचना के सन्दर्भ में उपर्युक्त उपनिषद् तथा मनु के मन में विरोध प्रतीत होता है। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर उपनिषद् का मत ही संगत लगता है क्योंकि जबतक आकाश या नहीं रहेगा तब तक किसी की अवस्थिति ही नहीं बनेगी। अतः जल तथा वायु आदि की सत्ता आकाश की रचना के बाद ही सम्भव है। फिर प्रश्न उठता है कि क्या मनु उपनिषद् के उपर्युक्तमत से बिल्कुल अनभिज्ञ थे? अथवा उक्तमत से असहमत थे? या खुद उन्हें वैज्ञानिक अवधारणा का बोध नहीं था गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर ये सभी आशंकाएँ निमूल लगती हैं। वस्तुतः उपनिषद् वाक्य और मनु के मत में विरोध नहीं, विरोधाभास है। उपनिषद् में प्रस्तुत मत बिल्कुल सत्य है, किन्तु दृष्टिगोचर होने को लेकर विचार करें तो आकाश और वायु सामान्यतः दृश्य नहीं है, दार्शनिकों के मत में भले ही वे प्रत्यक्ष हैं। वहाँ प्रत्यक्ष की परिभाषा इस प्रकार है—

‘इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्’

अर्थात् इन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय) के विषय में सम्बद्ध ज्ञान प्रत्यक्ष है।

मनु और कालिदास आदि की लोकदृष्टि प्रधान थी, अतः सामान्य जन-भावना को ध्यान में रखते हुए दृष्टिगोचर जल को ही उन्होंने सृष्टि की प्रथम रचना के रूप में उल्लिखित किया है।

सम्पूर्ण सृष्टि में सर्वोत्तम प्राणी के रूप में मनुष्य की उत्पत्ति हुई। कहा भी है—

‘नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्’।

महामना गोस्वामी तुलसीदास जी अपने उत्कृष्ट ग्रन्थ ‘रामचरितमानस’ में मनुष्य-शरीर को बहुत दुर्लभ मानते हैं। इसके उत्तरकाण्ड में गरुड़ एवं काकभुशुण्डी के संवाद के माध्यम से जिन सात बड़े गम्भीर प्रश्नों का उत्तर अत्यन्त संक्षेप में दिया गया है, उनमें प्रथम प्रश्न इसी सन्दर्भ में है। जिज्ञासु गरुड़जी महान् ज्ञानी काकभुशुण्डी से कहते हैं—

नाथ मोहि निज सेवक ज्ञानी।
सप्त प्रश्न मम कहहु बखानी।
प्रथमहिं कहहु नाथ मति धीरा।
सब ते दुर्लभ कवन सरीरा।

(मानस, १२१-३)

उनके इस प्रश्न का उत्तर तर्क के साथ काकभुशुण्डी इस रूप में देते हैं—

नर तन सम नाहिं कवनउ देही।
जीव चराचर जायत तेही।।
नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी।
ग्यान विराग भगति सुम देनी।।
सो तनु धरि भजहिं न जो नर।
होहिं विषय रत मंद मंद तर।।
काँच किरिच बदले ते लेही।
कर ते डारि परस मनि देही।।

(मानस, १२१-६-१२)

ईश्वर की सम्पूर्ण सृष्टि सूर्य, चन्द्र, नदी, समुद्र, पहाड़ तथा जंगल आदि प्रकृति के रूप में मान्य हैं। यहाँ प्रकृति शब्द के वास्तविक अर्थ पर विचार अपेक्षित है। अमरकोषकार ने ‘प्रकृति’ के चार अर्थ निर्धारित किए हैं। उनमें प्रथमतः यह त्रिगुणात्मक (सत्त्व, रज, एवं तम से युक्त) बतायी गई हैं।

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः प्रधानं प्रकृतिः स्त्रियाम्।

विशेषः कालिकोऽवस्थाः गुणाः सत्त्वं रजस्तमः।।

(अमरकोष १-४-२६)

यहाँ सृष्टि के मूल करण रूप में प्रकृति शब्द का प्रयोग है। समस्त विश्व का कारणभूत होने से इसे प्रधान भी कहा गया है। सांख्यदर्शन भी प्रकृति को ही जगत् का एकमात्र कारण सिद्ध करता है। प्रकृति के सत्त्व, रज और तमो गुण से युक्त होने के कारण सृष्टि के श्रेष्ठ प्राणी मनुष्य एवं उसके समस्त क्रियाकलाप—पूजा, आचार, यज्ञ, तप, दान, आदि भी तीन प्रकार के बताये गये हैं। प्रायः सभी जीवों में ये तीनों गुण विद्यमान रहते हैं, किन्तु सत्त्व आदि की

प्रधानता के कारण वे आत्त्विक, राजस और तामस कहे जाते हैं। अपने आराध्य अथवा पूज्य की दृष्टि से गीता में भेद पूर्वक कहा गया है कि सात्त्विक पुरुष देवताओं को पूजते हैं जबकि राजसजन यक्ष एवं राक्षसों की आराधना करते हैं तथा तामस मनुष्य प्रेत और भूतगणों की पूजा करते हैं—

यजन्ते सात्त्विकाः देवान् यक्ष रक्षांसि राजसाः।

प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।

(गीता १७. ४)

आहार (भोजन) की दृष्टि से इनका विवरण देते हुए कहा गया है कि सात्त्विक पुरुष को आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ानेवाले एवं रसयुक्त, चिकने और देर तक शरीर में सार रूप में रहनेवाले तथा स्वभावतः मन को प्रिय लगनेवाले भोजन रुचिकर लगते हैं—

आयुःसत्त्ववलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।

रस्याः स्निग्धाः स्थिराः हृद्याः आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।

गीता : १७. ८

रजोगुण प्रधान या राजस पुरुष के भोजन के बारे में वहाँ बतलाया गया है कि कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त बहुत गरम, तीखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगों को उत्पन्न करनेवाले भोज्य पदार्थ राजस पुरुष को अच्छे लगते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिनः।

आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।

गीता १७. ९

तामस पुरुष को वैसे भोजन रुचते हैं, जो अधपका, रस-रहित, दुर्गन्धयुक्त, वासी और उच्छिष्ट (जूठा) होने के साथ-साथ अपवित्र भी है—

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।

उच्छिष्टमपिचामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।

प्रकृति के गुणों की प्रधानता की दृष्टि से उपर्युक्त विवरण पुरुष तथा उसके आहार के विषय में प्रस्तुत किया गया है।

‘स्वभाव’ शब्द के पर्याय रूप में भी ‘प्रकृति’ शब्द के प्रयोग का निर्देश देते हुए अमरकोषकार कहते हैं—

संसिद्धिप्रकृतीत्वमे।

स्वरूपं च स्वभावश्च निसर्गश्च।।

अमरकोष : १७. ३७

अर्थात् स्वभाव के पाँच नाम हैं— संसिद्धि, प्रकृति, स्वभाव, और निसर्ग। लोक-व्यवहार में प्रकृति शब्द का स्वभाव अर्थ में बहुशः प्रयोग देखा जाता है। जैसे— साधु जनों की प्रकृति में ही उदारता एवं दानशीलता रहती है। दुर्वासा क्रोधी प्रकृति के मुनि थे। बाघ प्रकृति से ही हिंसक होता है।

काव्य-ग्रन्थों में भी इस अर्थ में प्रयोग पर्याप्त रूप से उपलब्ध है—

प्रकृत्या यद् वक्रं-----।

स्वभाव से जो टेढ़ा-----।

(अभिज्ञान शाकुन्तल : १।१६)

शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य।

(जल का स्वभाव शीतलता है।)

कामार्ता हि प्रकृतिकृपणा चेतनाचेतनेषु।

(मेघदूत : पूर्वमेघ)

(काम-भावना से पीड़ित व्यक्ति सजीव और निर्जीव पदार्थों के सन्दर्भ में स्वभावतः विवेक-रहित होते हैं।)

राज्य के सात अंगों— राजा, मन्त्री, मित्र, कोश, राष्ट्रभूमि, पर्वत आदि, दुर्ग और बल(सेना) को भी राष्ट्र कहा गया है—

स्वाम्यमामात्यसुहृत्कोषराष्ट्र दुर्ग बलानि च।

राज्याङ्गानि प्रकृतयः।

(अमर : २।८।१७-१८)

प्रजा के अर्थ में भी प्रकृति शब्द का प्रयोग देखा जाता है—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः।

(अभिज्ञानशाकुन्तलम् : ७।३५)

नृपतिः प्रकृतीरवेक्षितुम्। (रघुवंश : ८।१८)
(प्रजा की भलाई के लिए राजा -----)
प्रकृति शब्द योनि अर्थात् उत्पत्तिस्थान एवं लिंग के अर्थ में भी अमर-कोष में निर्दिष्ट है।

प्रकृतिर्योनिलिङ्गे च।

महाकवि कालिदास जब पृथ्वी के लिए सर्वबीजप्रकृतिरिति (अभिज्ञानशाकुन्तल : १।१) ऐसा प्रयोग करते हैं तो उनका तात्पर्य उत्पत्ति-स्थान ही है।

मेदिनीकोश में उपर्युक्त अर्थों के बोधक के रूप में प्रकृति शब्द को प्रस्तुत किया गया है—

प्रकृतिर्गुणसाय्ये स्यादामात्यादिस्वभावयोः।

योनौ लिङ्गे पौरवर्गे।

अर्थात् प्रकृति के अर्थ त्रिगुणात्म सृष्टि, राज्य के अमात्य आदि सात अंग, स्वभाव, योनि, लिंग और पुरवासी या प्रजा हैं।

गम्भीरता से विचार करने पर 'प्रकृति' के जो भी अर्थ उपर्युक्त रूप में बतलाये गये हैं, चाहे सृष्टि का मूल कारण हो या राज्य के अंग हों अथवा योनि, लिंग एवं प्रजा हों, ये सभी स्वभाव के अन्तर्गत आ जाते हैं, क्योंकि स्वाभाविक रूप से ही ईश्वरेच्छा कहे या अन्य कुछ, इनकी सत्ता है। किसी मानवीय प्रयत्न से या किसी कारखाने में इनका उत्पादन नहीं हुआ है। पेड़-पौधे, भूमि, हवा, पर्वत, नदियाँ, समुद्र, सूर्य, चन्द्र आदि को प्रकृति कहने का भी यही भाव है कि ये स्वयं या स्वभावतः उत्पन्न हुए या दृष्टिगत हैं। किसी व्यक्ति ने इसका निर्माण किया हो, ऐसा कोई प्रमाण कहीं नहीं है। इस प्रकार किसी वस्तु की नैसर्गिक स्थिति ही प्रकृति है।

उपरि निर्दिष्ट प्रकृति-विवेचन के बाद अब हम 'विकृति' पर विचार करेंगे। वास्तव में प्रकृति का विपरीत ही विकृति है, कालिदास ने शरीरधारियों के मरण को प्रकृति कहा है, जबकि जीवन को विकृति

माना है। रघुवंश महाकाव्य में उन्होंने कहा है—
मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।

रघुवंश : ८।८७

पेड़-पौधे प्रकृति हैं, किन्तु उन्हें काट डालना या उजाड़ देना विकृति है। पहाड़ प्रकृति है और उसे नष्ट कर देने विकृति है। जल और वायु प्रकृति है, जबकि उन्हें गन्दा या प्रदूषित करना विकृति है।

पेड़ एवं पौधे से हम फल एवं फूल ग्रहण करें तथा उसकी सूखी डालियों या अंगों को हम अपने उपयोग में लायें, यह तो उचित है, किन्तु जब उनसे हम कुछ ग्रहण करते हैं तो हमारा भी कर्तव्य बनता है कि उनके सम्बर्धन हेतु हम उसमें पानी डालें तथा आवश्यकतानुसार अन्यरूपों में उसकी देखभाल करें। इसके विपरीत उन्हें काट डालना या समूल नष्ट कर देना विकृति है।

आज वस्तुओं के बाजारीकरण के युग में हम स्वार्थान्ध होकर प्राकृतिक पदार्थों का दोहन मात्र नहीं करते, अपितु उन्हें विनष्ट करने में ही अपना अधिकाधिक लाभ उठाते हैं। इसी का परिणाम है कि आज विश्व के सामने पर्यावरण की गम्भीर समस्या इसे निगल जाने के लिए मुँह बाये खड़ी है। आज जंगल और पहाड़ तेजी से नष्ट हो रहे हैं। कृषि और बगीचे वाली जमीन पर नये-नये कारखाने खुल गये हैं। उन कारखानों से निकलता धुआँ जमीन को बंजर बनाती जा रही है और उस कारखाने से निकला कचड़ा नदियों में बहाया जा रहा है। आज बहुसंख्य नदियों का पानी उस कचड़े से इतना जहरीला हो गया है कि उसे पीने की तो बात दूर, नहाने लायक भी नहीं माना जाता है।

प्रकृति और विकृति की बात को दूसरे रूपों में देखा जा सकता है। भूख लगना प्राणिमात्र की प्रकृति है। भूख मिटाने के लिए हर जीव को भोजन चाहिए, किन्तु दूसरे का आहार छीन कर हम उसे ले लें, यह विकृति है। हमारे यहाँ कहा गया है—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।

(ईशोपनिषद् : १)

अर्थात् उस ईश्वर या ईश्वर के अंशभूत जीव के साथ त्यागपूर्वक सांसारिक पदार्थों का भोग करो। उसमें आसक्त मत होओ क्योंकि यह धन या भोग्य पदार्थ किसका है? अर्थात् किसी का भी नहीं है। भर्तृहरि ने कहा है— भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः। अर्थात् भोगों को हमने नहीं भोगा अपितु भोग ने ही हमें भोग लिया; निगल लिया। मनुष्य भूल से उसमें आसक्ति कर बैठता है। ये सभी प्राकृतिक पदार्थ उस ईश्वर के हैं अथवा समाजवाद की भाषा में कहे तो सब पर समाज का ही अधिकार है। इस समाजवाद की धारणा इस भारत भूमि का अपना चिन्तन है, विदेश से उधार लिया गया मत नहीं है। भागवत पुराण में कहा गया है—

यावद् विभर्ति जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।

अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति।।

अर्थात् जितने से प्राणियों का पेट भर जाये, उतने पर ही उसका अधिकार है। उससे अधिक को जो अपना मानने का घमण्ड करता है वह चोर है; अतः दण्डनीय है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि उपर्युक्त श्लोक में 'अभिमन्येत' पद (शब्द) का प्रयोग है, जिसका अर्थ है— अहंकारपूर्वक अपना मानना। तात्पर्य है कि किसी के पास अधिक धन होना बुरा नहीं है, यदि उस व्यक्ति में त्याग या परोपकार की भावना है तो आत्मतोष एवं लोककल्याण में प्रवृत्त हो सकता है। बुराई इसमें है कि प्राप्त धन पर वह अपना एकाधिकार समझ बैठता है और वस्तुओं की जमाखोड़ी कर उसकी कालाबाजारी करता है तथा अधिक से अधिक मुनाफा कमाने का लक्ष्य बनाकर महँगे दाम पर उसे बेचने के फिराक में रहता है। ऐसा व्यक्ति आज भी कानून के अनुसार दण्ड का भागी है।

इसी तरह कामवासना सभी प्राणियों में प्रायः होती है। मनुष्य और पशुओं में तो यह प्रत्यक्षतः देखी जाती है। भर्तृहरि ने कहा है—

'आहार-निद्रा-भय मैथुनञ्च

समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्।

अर्थात् भोजन, नींद, डर और कामवासना की पूर्ति की इच्छा पशुओं और मनुष्यों में समान रूप से होती है। यह प्रकृति है। इन सबकी पूर्ति आवश्यक है, किन्तु किसी दूसरी स्त्री को अपने बाहु-पाश में जकड़ लेना विकृति या व्यभिचार है। ऐसा कृत्य दण्डनीय तो है ही। इससे समाज में अशान्ति और अव्यवस्था फैलती है। कानून ऐसे व्यक्ति को दण्डित करने में विलम्ब करता है अथवा पर्याप्त साक्ष्य के अभाव में दण्ड देने में असमर्थ होता है तो लोग कानून को ही अपने हाथ में लेकर अपने तरीके से अपराधियों और व्यभिचारियों को मौत के घाट उतार देते हैं; न्यायालय में घुसकर व्यभिचारियों की हत्या सामूहिक रूप से महिलाओं द्वारा कर दिया जाना अनहोनी या अस्वाभाविक नहीं है। जन-भावना के सामने कानून भी बौना दिखने लगता है।

इस प्रकार प्रकृतिगत पदार्थों में मानवीय असंवेदना के कारण ही विकृति या विरूपता आती है। इससे उन पदार्थों की नैसर्गिक क्षमता में हास निश्चित है। इस स्थिति में हमारा परिवेश प्रदूषित होता है। अतः प्रकृति के क्षीयमाण स्वरूप की भरपायी एवं प्रदूषण निवारण के लिए पर्यावरण संरक्षण का गम्भीर विषय आज चिन्तकों के सामने उपस्थित है। जड़-चेतन जगत् की स्वस्थ वृत्ति एवं स्वच्छतापूर्ण जीवन धारण के लिए पर्यावरण की महत्ता और उपयोगिता आज बहुत प्रासंगिक है।

इस दिशा में ठोस पहल के लिए संसार की अनेक सरकारी एवं स्वयंसेवी संस्थाएँ प्रयासरत हैं। जंगलों एवं पहाड़ों का संरक्षण करना, अधिकाधिक पेड़-पौधे लगाना, नदियों में मल एवं कूड़ा-कचड़ा

तथा अन्य अनुपयोगी वस्तुओं के निःसरण को रोकना तथा प्रदूषण-मुक्त वाहनों के प्रयोग आदि ऐसे उपायों के द्वारा पर्यावरण-संरक्षण की समस्या का समाधान किया जा सकता है।

इस सन्दर्भ में यह भी महत्त्वपूर्ण है कि बाह्य प्रदूषण-निवारण के साथ-साथ आन्तरिक प्रदूषण का परिष्कार भी आवश्यक है। कहा जाता है कि युद्ध पहले दिमाग से होता है उसके बाद ही रणभूमि में वह कार्यरूप लेता है। हर मनुष्य के अन्तःकरण में सुमति और कुमति अथवा दैवी प्रवृत्ति तथा दानवी प्रवृत्ति का वास रहता है। जहाँ सुमति अथवा दैवी प्रवृत्ति प्रबल है, वहाँ शान्ति, सद्भावना तथा अन्य संपदाएँ विराजमान होती हैं, किन्तु कुमति अथवा दानवी प्रवृत्ति की सक्रियता की स्थिति में अशान्ति, दुर्भावना एवं विविध प्रकार के संकट की स्थिति आ जाती है। जैसा कि तुलसीदास ने कहा है—

सुमति कुमति सब के उर रहहीं।

नाथ पुराण निगम अस कहहीं।।

जहाँ सुमति तँह सम्पति नाना।

जहाँ कुमति तँह विपति निधाना।।

मानस : ५।४० ५-६

विकृति अथवा बुराइयों की ओर आकृष्ट होना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, किन्तु उनसे निवृत्ति या मन के नियन्त्रण में ही आत्मगत तथा मानव-मात्र

का कल्याण है। मनु ने कहा है—

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।

(मनुस्मृति : ५।५६)

इन्द्रिय-निग्रह तथा इच्छाओं के वशीकरण का उपदेश प्रायः सभी धर्मों के अनुयायियों ने किया है। मन को ही दुःख अथवा बन्धन एवं मोक्ष का कारण कहा गया है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

वाल्मीकि रामायण में भी सभी शुभाशुभ कार्यों के लिए इन्द्रियों की प्रवृत्ति में मन को ही कारण बताया गया है—

मनो हि हेतुः सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्तने।

शुभाशुभास्ववस्थासु-----।।

इस प्रकार जगत् एवं शरीर तथा मन की स्वाभाविक स्थिति ही प्रकृति है, जबकि उसके विपरीत या विकार या लोकाचार-विरुद्ध आचरण ही विकृति है। इसी के कारण बाह्य तथा आन्तर पर्यावरण प्रदूषित होता है। पर्यावरण की परिशुद्धि के लिए हमें प्रकृति के प्रति संवेदनशील होना पड़ेगा, तभी ऋषियों की यह वाणी फलीभूत होगी—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।।

संस्कृत विभाग, बिहार नेशनल कालेज, पटना।

v

गंगा-स्तुति

कत सुखसार पाओल तुअ तीरे। छाड़यित निकट नयन वह नीरे।।
कर जोड़ि विनमो विमल तरंगे। पुन दरसन हो पुनमति गंगे।।
एक अपराध छमव मोर जानी। परसल माय पाय तुअ पानी।।
कि करव जप तप योग धेयाने। जनम कृतारथ एकहि सनाने।।
भनहि विद्यापति समदों तोही। अन्तकाल जनु बिसरहु मोही।।

कविकोकिल विद्यापति

आग्रह के विग्रह

डा० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी

संसार के अन्य सभी भाव जैसे हेय और ग्राह्य इन दोनों रूपों में अपनी अलग स्थितियों और स्वरूपों में प्रकट और तिरोहित हुआ करते हैं, वैसे ही आग्रह भी है। आग्रह

ही वह तत्त्व है जो हमें कभी वैचारिक संग्राम में उतारकर तर्कों के शस्त्रों से लेकर भीषण युद्धों के बीच भी झोक देता है और कभी मणिमय राज्यसिंहासन पर भी आसीन कर देता है। जब हम किसी सिद्धान्त, किसी व्यक्ति, किसी वस्तु, किसी कार्य के लिए अन्य सबको तुच्छ समझकर अपना सारा केन्द्र उसे ही बना लेते हैं तब उसे आग्रह स्नेह, प्रेम, इष्क, श्रद्धा, विश्वास, आदि शब्दों से कहा सौहार्द समझा जाता है। इन शब्दों से कहा सुना समझा जाता है। उन शब्दों के अर्थ में यद्यपि सूक्ष्म भेद भी है, परन्तु सामान्यतया हम इनको एक भी कह सकते हैं।

कोई यदि यह प्रश्न करें कि जब हम यह जानते और मानते हैं कि सारा विश्व क्या सारा ब्रह्माण्ड, भूमि, आकाश, ग्रह, जड़, चेतन आदि सभी एक ही ईश्वर से उत्पन्न ही किया है बल्कि वही सब

में व्याप्त भी है। सारा विश्व एक ही है; फिर हम सब अपनी अपनी भूमि अपने धर्म, अपनी भाषा, अपनी संस्कृति इन सबके लिए क्यों व्याकुल रहते हैं कि यही सर्वश्रेष्ठ है। तब वहाँ आग्रह ही वह तत्त्व है जो हमें

तर्क करना अच्छी बात है। कहा गया है कि तर्क करते रहने से कभी न कभी तत्त्वार्थ का बोध हो जाता है। “वादे वादे जायते तत्त्वबोधः” इसी सन्दर्भ में कहा गया है। इसके विपरीत जब कोई तर्क धारणा का रूप ले लेता है, तब वह तत्त्वार्थ की ओर अग्रसर हो पाता है। धारणा का भी यही रूप है। यह आग्रह, पूर्वाग्रह, दुराग्रह आदि बन जाता है। दूसरी ओर दृढ़ता भी इसी की सौतेली बहन है, जो हमें ऊँचाई तक ले जाती है। आग्रह के इन्हीं विभिन्न रूपों पर सारगर्भित लेख प्रस्तुत है।

इन सब को अपनाने के लिए तथा अपने देश, धर्म, जाति, सभ्यता के लिए उसकी रक्षा के लिए अपनी आहुति तक दे देने की प्रेरणा प्रदान करता है।

श्री कृष्ण ने गीता में कहा—

‘स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।’

अपने धर्म में क्षीण अवस्था में पहुँचकर भले मृत्यु भी हो जाय तो भी वह श्रेष्ठ

है, परन्तु पर धर्म को अंगीकार करना भय उत्पन्न करता है। यह आग्रह है अपने लिए, अपने धर्म के प्रति। इस दृष्टि से हम जन्म से ही अज्ञान स्थिति में ही आग्रह में ही पालित-पोषित होते हैं। परन्तु यह आग्रह या अज्ञान हमारी जीवन यात्रा में एक बनी बनायी सुन्दर सड़क का कार्य सम्पन्न करता है, जिसपर हम निश्चिन्त भाव से उछलते, कूदते, दौड़ते आगे बढ़ते रहते हैं, हमें इन सबसे किसी बाधा या रुकावट की आशंका नहीं होती। ऐसा आग्रह का विग्रह या स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति के साथ संसार में विद्यमान है, जहाँ परम्परागत आग्रह, या यदि उसे

आग्रह न कहना चाहेंगे तो अभ्यास कह लीजिए, जीवन को थपकियाँ देता है, आगे बढ़ाता है। मूलतः तो यह दर्शन के विचार प्रवाह में या माया या अविद्या या अज्ञान ही है, परन्तु जैसा कि वेदान्त दर्शन कहता है कि अविद्या दो प्रकार की होती है, मूला अविद्या और तूला अविद्या। आचार्य वल्लभ ने इन्हीं दो को संसार या प्रपंच कहा है। इनमें मूला अविद्या या संसार वह है, जिसमें हम उत्पन्न होकर मृत्यु पर्यन्त विचरण करते हैं। जहाँ नाना भाव है, पार्थक्य है, अनन्तता है, परन्तु वह सब जीवन का पोषक तत्व है। इनमें आग्रह का विग्रह या शरीर है, जिसके बिना जीवन का आगमन और संचरण सम्भव ही नहीं है। यह सर्वदा से ग्राह्य है। परन्तु दूसरी जो तूला अविद्या या प्रचंच है, वह हमें सर्वदा विपत्ति में डाले रहता है। मूला अविद्या हमारे द्वारा निर्मित नहीं है, परन्तु वह हमारे लिए है, सबके लिए है। तूला अविद्या या प्रपञ्च हमारी ही उपज है। इसमें सर्वत्र हेय और उपादेय का भाव जगत् रहता है। एक ही वस्तु है, वही किसी के लिए ग्राह्य और दूसरे के लिए त्याज्य या उपेक्षा की बात होती है। जिसके लिए ग्राह्य है, वह उसके प्रति आग्रहशील होता है और जिसके लिए त्याज्य होता है, वह भी उसे दूर करने के लिए अपना आग्रह रखता है।

इस आग्रह के विग्रह या शरीर या स्वरूप अलग अलग हैं, वे छोटे से छोटे और बड़े से बड़े हैं। इसका क्षेत्र व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्ताराष्ट्रीय तक होते हैं। साहित्य में विशेषकर दर्शन में आग्रह के पैर खूब फैले हुए हैं। सामाजिक और राजनीतिक विचारों में तो आग्रह अपनी पराकाष्ठा पर है।

यहीं हमें आग्रह के ग्राह्य और त्याज्य विग्रह या रूपों को भी ध्यान में ले लेना होगा। ग्राह्य रूप आग्रह का तब होता है, जब उस आग्रह या अभ्यास से भले ही कुछ लोगों का नुकसान हो, परन्तु पर्याप्त लोगों का लाभ भी उसमें शामिल रहता है, इसीलिए

उसे ग्राह्य मान लिया जाता है। क्योंकि ऐसा कोई पदार्थ या वस्तु या अभ्यास या आग्रह नहीं मिल सकता जो सबके लिए मनोहर हो—

नास्त्येव तज्जगति सर्वमनोहरं यत्।

तब यहीं देखना होगा कि वह बहुतों को आनन्दित करनेवाला आग्रह हो ताकि वह विपरीत लगनेवालों के लिए त्याज्य होने पर भी बहुत से लोगों के लिए ग्राह्य हो। परन्तु बहुत से आग्रह केवल एक व्यक्ति या कुत्सित आचरण वालों का लाभ करनेवाले होते हैं, तब उन्हें खराब या आग्रह या दुराग्रह कहा जाता है। रावण ने सीता का हरण किया और उन्हें न लौटाने के लिए घोर संग्राम किया, वह उसका व्यक्तिगत कुत्सित पापाग्रह ही था। दुर्योधन ने पाण्डवों से छीने हुए राज्य को वापस लेने के लिए केवल युद्ध को ही एक विकल्प बतलाया—

सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव।

यह उसका घोर दुराग्रह ही था। इसके विपरीत राम का सीता को प्राप्त करने का आग्रह था, पाण्डवों का राज्य प्राप्त करने का आग्रह था, वह किसी भी दृष्टि में अनुचित नहीं कहा गया।

ब्रिटेन वालों ने हमारे देश को परतन्त्र बनाकर यहाँ राज्य करके यहाँ की सम्पत्ति की लूट से अपने को सम्पन्न बनाया, यह उनकी अपनी दृष्टि से अच्छा आग्रह होने पर भी यहाँ की दृष्टि से उनका दुराग्रह ही माना गया। वह उनका मिथ्या दम्भ ही था कि उन्होंने अपने को यहाँ टिकाए रखने की चेष्टा के रूप में यहाँ की जनता पर अमानुषिक अत्याचार किये। उसके विरोध में, यहाँ से उन्हें निकालने के लिए यहाँ की जनता ने महात्मा गान्धी के नेतृत्व में जो आन्दोलन चलाया उसका नाम रखा गया सत्याग्रह। वह सत्य के लिए आग्रह था कि हम अपने देश में परतन्त्र नहीं रह सकते। स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। यह सत्य के लिए आग्रह था, जो सत्याग्रह कहलाया और सत्य के लिए इस आग्रह 'सत्याग्रह' ने देश को स्वतन्त्र करा दिया। दुराग्रह या मिथ्याग्रह का पलायन

हुआ। आग्रह का नया विग्रह सामने आया। अहिंसा को साथ लेकर, जिसके संचालक महात्मा गान्धी आदि महान् दिग्गज थे इस सत्याग्रह में देश के समस्त लोग थे।

कई वर्षों से 'प्रीजुडिस्ट' का हिन्दी में रूपान्तर होकर 'पूर्वाग्रह' चमक रहा है। यह पूर्वाग्रह भी सभी जगह है। स्वयं को किसी के पक्ष में पहिले से तैयार करना पूर्वाग्रह कहा जाता है। यह आग्रह का एक नया रूप या विग्रह भले ही लगता हो किन्तु यहाँ आग्रह स्वयं पहले से तय होता है। इसमें किसी किसी का व्यक्तिगत प्रभाव काम करता है। पूर्वाग्रह में कहीं कहीं आर्थिक सम्बन्ध और पारिवारिक सम्बन्ध भी जोर मारता है।

व्यक्तिगत आग्रह भी बड़े ऊँचे स्तर पर कायम है। कोई विद्वान् या व्यक्ति ऊँचे पद पर आसीन होकर यह समझ बैठता है कि मेरा यही महत्त्व है कि मैं अबतक ऊँचे आसन पर जमा हुआ सबको धूल चटा दूँ। वह निकल पड़ता है यही आग्रह लेकर और वह जानता है कि ऐसा करने पर वह जिसकी आलोचना कर रहा है, उसके प्रति श्रद्धा रखनेवालों को बहुत बुरा लग मालूम होगा। वह यह भी जानता है कि इसके विना अपना प्रशंसक वर्ग खड़ा करना सम्भव नहीं। इसी पूर्वाग्रह या आग्रहवश वह इस मैदान में कूद पड़ता है और जितनी आलोचनाओं का शिकार होता है, उतना ही स्वयं को सफल समझता है।

पुरातन शैली के लोग बहुत आग्रहग्रस्त रहते हैं। कोई नयी शैली, कोई नयी बात उनके गले हठात् उतरती नहीं। जब तक कोई बात पंचावयव में न कही जाय, तब तक न्याय की भाषा वाले उसे विचारणीय मानते ही नहीं। आज जो बड़ी बड़ी बातें, वैज्ञानिक उपलब्धियाँ सामने हैं, उन्हें वे कूड़ा-करकट से अधिक महत्त्व नहीं देते। कितना बड़ा आग्रह है उनका अपनी शैली और विद्या पर, जो कुछ लोगों को छोड़कर अन्य लोगों की समझ में ही घुस नहीं पाती।

जब उनसे शिकायत की जाती है कि आपकी बात हमारी समझ में नहीं आयी तब उनका उत्तर होता है कि हमने पनी पूरी जिन्दगी खपाकर जिसे प्राप्त किया, तुम चाहते हो कि उसे हलवा-पूड़ी की तरह तुम साफ कर जाओ! भैया ये हैं लोहे के चने। गुरुजी के घर जाने आने में कितनी ही जोड़ी चप्पलें घिसी हैं; कितना श्रम किया है, तब कहीं यह विद्या हमारे पास टिकी है। यह तुम्हारे वश की बात नहीं। जाओ, अखबार पढ़ लिया करो, वही तुम्हारे लिए बहुत है, आदि आदि।

कुछ पारिभाषिक शब्दों के माध्यम से विषयों का आग्रह दिमागपर हावी हो जाता है और दिन-रात बोलते रहते हैं। कुछ समझे कुछ विना समझे श्रोता वर्ग पर अच्छा प्रभाव जमाने में सफल हो जाते हैं, वे उन परिभाषा के शब्दों के आग्रह में लिस हो उठते हैं। कहते हैं कि हम विज्ञान की बातें पढ़ रहे हैं। उनसे कहा जाता है कि विज्ञान तो प्रयोगात्मक हुआ करता है, यहाँ तो आपके पास शब्द ही शब्द है। उसी तरह विज्ञान भी शब्द ही है। महाभाष्यकार भगवान् पतंजलि ने एक स्थान पर पूर्वपक्ष उठाने वालों का उपहास करते हुए कहा है कि— **शब्दैरेव शब्दानाचष्टे भवान्**। आप तो शब्दों से ही शब्दों को कह रहे हैं। पारिभाषिक शब्दावली रटनेवाले भी यहीं करते हैं और उनपर उनका इतना आग्रह रहता है कि प्रश्न उठानेवालों पर “**शेषं कोपेन पूरयेत्**” (बाँकी सब क्रोध करके पूरी करनी चाहिए) इस उक्ति को चरितार्थ करते हैं। यह उनके आग्रह की सीमा हो जाती है।

आग्रह के विग्रह इतने अधिक हैं कि विभिन्न देश और काल में उनको गिन पाना कठिन है।

जी० २८, अरविन्द कालोनी,

बी० एच० यू० वाराणसी

जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे

आचार्य किशोर कुणाल

उड़ीसा में समुद्र के तट पर विराजमान भगवान् जगन्नाथ की स्तुति करते हुए शंकराचार्य ने 'जगन्नाथाष्टक' के दूसरे श्लोक में भगवान् के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—

भुजे सव्ये वेणुं शिरसि शिखिपिच्छं कटितटे
दुकूलं नेत्रान्ते सहचरकटाक्षं विदधते।
सदा श्रीमद्वृन्दावनवसतिलीलापरिचयो
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे।।

अर्थात् भगवान् के वाम हस्त में मुरली है, सिर पर मोर के पंख हैं, कमर में दुपट्टा है, आँखों के कोरों में साथ-साथ रहने वाला कटाक्ष है। इस प्रकार के स्वामी, जगत् के नाथ भगवान् जगन्नाथ, जो हमेशा सुशोभित वृन्दावन की भूमि पर लीला में निमग्न रहते हैं, उनका दर्शन हमें हो।

स्कन्द-पुराण के वैष्णव खण्ड के पुरुषोत्तम (जगन्नाथ) क्षेत्र माहात्म्य में दारु-रूपी नारायण पुरुषोत्तम जगन्नाथ भगवान् की उत्पत्ति एवं उपासना का विस्तृत वर्णन ४६ अध्यायों में है। पाँचवें अध्याय में मुनिगण जैमिनि से प्रश्न करते हैं—

कस्मिन् देशे द्विजश्रेष्ठ तत् क्षेत्रं पुरुषोत्तमम्।

यत्र नारायणः साक्षाद् दारुरूपी प्रकाशते।।१।।

हे विप्रश्रेष्ठ! किस देश में वह पुरुषोत्तम क्षेत्र है? जहाँ नारायण साक्षात् दारु रूप में प्रकाशित होते हैं?

इस पर जैमिनि ने उत्तर दिया—

उत्कलो नाम देशोऽस्ति ख्यातः परमपावनः।

यत्र तीर्थान्यनेकानि पुण्यान्यायतनानि च।।२।।

उत्कल नामक एक देश है, जो परम पावन तथा विख्यात है, जहाँ अनेक तीर्थ और पुण्य देवालय हैं।

जगन्नाथजी का साक्षात् दर्शन करनेवाले एक जटिल संन्यासी द्वारा अवन्तिनरेश इन्द्रद्युम्न को इस क्षेत्र के बारे में यह जानकारी दी गयी है—

ओद्रदेश इति ख्यातो वर्षे भारतसंज्ञिते।

दक्षिणस्योदधेस्तीरे क्षेत्रं श्रीपुरुषोत्तमम्।।२३।।

भारतवर्ष में दक्षिण समुद्र के तट पर ओद्र नामक एक प्रसिद्ध देश है, वह क्षेत्र पुरुषोत्तम क्षेत्र कहलाता है।

यत्र नीलगिरिर्नाम समन्तात् काननावृतः।

तस्योत्सङ्गे कल्पवृक्षः समन्तात् क्रोशसम्मितः।

तस्य छायां समाक्रम्य ब्रह्महत्या व्यपोहति।

इस देश में जहाँ चारों ओर से जंगल से घिरा हुआ नीलगिरि नाम का पर्वत है, उसी की गोद में एक कल्पवृक्ष है, जो एक कोश तक फैला हुआ है। इसकी छाया में पहुँच जाने पर ब्रह्महत्या का पाप भी मिट जाता है।

तस्य पश्चाद् दिशि ख्यातं कुण्डं रौहिणसंज्ञितम्।

तत् पूर्णं कारणाम्भोभिः स्पर्शनादेव मुक्तिदम्।।

इसी के पश्चिम में रौहिण नामक प्रसिद्ध कुण्ड है। वह पवित्र जल से परिपूर्ण है, जो स्पर्श करने से ही मुक्ति देनेवाला है। इसके पूर्व तट पर

नीलम मणि से निर्मित श्रीवासुदेव की मूर्ति है, जो प्रत्यक्ष रूप से मुक्ति प्रदान करनेवाली है। वहाँ कुण्ड में स्नान कर और पुरुषोत्तम का दर्शन कर लोग हजार अश्वमेध यज्ञ का फल पाते हुए मोक्ष प्राप्त करते हैं। भगवान् के पश्चिम में शबरदीप नामक श्रेष्ठ एवं प्रसिद्ध आश्रम है, जो भीलों के घरों से घिरा हुआ है। इसी आश्रम से एक पगडण्डी जाती है, जिससे होकर भगवान् विष्णु के प्रांगण में जाना चाहिए।

यत्र साक्षाज्जगन्नाथः शङ्खचक्रगदाधरः।

जन्तूनां दर्शनान्मुक्तिं यो ददाति कृपानिधिः।।

इस स्थान पर शंख, चक्र एवं गदा धारण करनेवाले तथा कृपा के सागर भगवान् जगन्नाथ प्रत्यक्ष निवास करते हैं, जो दर्शन करने से ही जीवों को मोक्ष प्रदान करते हैं। हे राजन्! इस पुरुषोत्तम क्षेत्र में देवाधिदेव को प्रसन्न करने के लिए मैं त्रती वनवासियों के साथ एक वर्ष तक रह चुका हूँ। हे महाराज! प्रत्येक रात्रि में भगवान् के दर्शन करने के लिए जो देवतागण पधारते थे, तो उनके आते ही वहाँ ऐसी सुगन्धि फैल जाती थी जैसी मनुष्यलोक में सम्भव नहीं। विभिन्न प्रकार की स्तुतियों की ध्वनियाँ तथा कल्पवृक्ष के फूलों की वर्षा यहाँ होती रहती है। यह महिमा तो विष्णु के अन्य किसी भी स्थान पर प्रकट नहीं होती है। संन्यासी से जगन्नाथ माहात्म्य सुनकर विष्णुभक्त रजा इन्द्रद्युम्न के मन में भी तीर्थयात्रा की उत्सुकता जगी। राजा के आदेश से पुरोहित के अनुज विद्यापति को मार्ग एवं स्थान देखने के लिए भेजा गया। विद्यापति एक वन में मार्ग भटक गये। एक स्थान पर विश्राम करते हुए उन्हें भगवच्चर्चा सुनाई पड़ी। जब वे उस आवाज का अनुसरण करते हुए आगे बढ़े तब उन्होंने शबरों की वस्ती से घिरा हुआ 'शबरदीपक' नामक आश्रम देखा। वहाँ धीमे जाकर विनयावनत विद्यापति विप्र ने शबर विष्णुभक्तों को देखा। वे सब शंख, चक्र एवं गदा धारण किये हुए थे। वहाँ विप्र विद्यापति ने हाथ जोड़कर और सिर

झुकाकर उन्हें प्रणाम किया तथा चुपचाप खड़े रहे। तब विश्वावसु नामक वृद्ध शबर विष्णु भगवान् की पूजा समाप्त कर पूजा के प्रसाद से सुशोभित होकर पहाड़ के बीच से वहाँ आये। शबर विश्वावसु को देखकर विद्यापति को अतीव प्रसन्नता हुई। उन्होंने शबर-स्वामी को वैष्णवों में श्रेष्ठ मानते हुए भगवान् विष्णु के विषय में दुर्लभ समाचार उनसे प्राप्त होने की बात सोची। शबर विश्वावसु ने विद्यापति से कुशल-क्षेम पूछकर उन्हें पाद्य, आसन और अर्घ्य प्रदान किया। भोजन के लिए आग्रह करने पर विद्यापति ने बतलाया कि राजा इन्द्रद्युम्न ने नीलमाधव श्रीहरि का दर्शन करने के लिए उन्हें भेजा है ; अतः जब तक भगवान् का दर्शन नहीं हो जाता है, तब तक वे निराहार ही रहेंगे। विद्यापति ने विश्वावसु से नीलमाधव का दर्शन कराने का आग्रह किया। इस पर शूर-स्वामी विश्वावसु धर्म संकट में पड गये। उन्होंने राजा इन्द्रद्युम्न के संभाव्य आगमन की जनश्रुति सुनी थी; साथ ही उन्हें अतिथि के प्रति उदासीनता दिखाने पर सत्कार में त्रुटि एवं अतिथि के शाप की आशंका थी; किन्तु गुप्त रूप से पूजित नीलमाधव भगवान् शबर-कुल के उपजीव्य थे; उनकी उपासना भी वे ही करते थे; उनके प्रसाद से ही शबरों की आजीविका चलती थी।

अन्त में विश्वावसु ने विद्यापति को नीलमाधव को दर्शन कराने का संकल्प किया। विद्यापति को अपनी अगुआई में दुर्गम मार्ग पार कराते हुए रौहिण कुण्ड पर ले जाकर उसमें स्नान कराया। स्नान के बाद विद्यापति को उसने कल्पवट दिखलाया, जिसकी छाया से ब्रह्महत्या के भी पाप का शमन हो जाता है। तदनन्तर विश्वावसु ने निकुंज में स्थित भगवान् जगन्नाथ का दर्शन विद्यापति को कराया। विद्यापति विह्वल होकर भगवान् की स्तुति करने लगे। दर्शन हो जाने के कारण वे अपने जीवन को धन्य मानने लगे। स्तुति के समापन पर विश्वावसु विद्यापति को अपने आश्रम

में लाये, जहाँ उन्होंने ऐसे दिव्य व्यंजनों से विद्यापति को भोजन कराया, जैसे दिव्य व्यंजन उन्होंने अपने राजा की रसोई में कभी नहीं देखे थे। विस्मित विद्यापति ने विश्वावसु से इसका रहस्य जानना चाहा। विश्वावसु ने उत्तर दिया कि यहाँ प्रति दिन इन्द्र आदि देवता स्वर्ग से दिव्य व्यंजन लेकर जगन्नाथजी की पूजा करने के लिए आते हैं। षोडशोपचार से उनकी पूजा करने के बाद गीत वाद्य नृत्यादि से उन्हें प्रसन्न कर लौट जाते हैं। ये सभी दिव्य भोग जगन्नाथजी के प्रसाद हैं। यह सुनकर विद्यापति रोमांचित हो उठे। वे सोचने लगे— 'अहो शबर-वंश में उत्पन्न यह व्यक्ति प्रतिदिन अविनाशी ईश्वर का दर्शन करता है और उनके प्रसाद स्वरूप दिव्य भोग का उपभोग करता है। इस पृथ्वी पर सभी चराचर प्राणियों में इसके जैसा भाग्यवाल् कोई भी नहीं है। इसके जैसा विष्णुभक्त को पा जाने के बाद अब घर जाकर क्या करूँगा। अतः इन्ही के साथ मित्रता कर यही निवास करूँगा।

विद्यापति ने विश्वावसु से मैत्री के अनुग्रह की विनय की। विद्यापति ने भिल्ल सरदार विश्वावसु से यह भी कहा कि भाग्य से तुम्हारे साथ मेरी मैत्री हुई है और तुम्हारी कृपा से ही अब मैं दुस्तर भवसागर को पार कर जाऊँगा।

जब विद्यापति ने विश्वावसु को यह बतलाया कि राजा इन्द्रद्युम्न के साथ वे पुनः शीघ्र ही भगवान् के दर्शन के लिए आयेंगे, तब विश्वावसु ने उनसे कहा कि राजा इन्द्रद्युम्न नीलमाधव का दर्शन नहीं कर पायेंगे, किन्तु शेष सभी पुण्य कार्यों का फल उन्हें मिलेगा। विश्वावसु ने उन्हें बतलाया कि नीलमाधव के दर्शन से सबको मोक्ष मिल जाने के कारण यमराज की विनती पर अब वे यहीं स्वर्णमयी बालुका में छिपकर अदृश्य हो जायेंगे। फिर भी राजा की साधना से प्रसन्न होकर भगवान् दर्शन देंगे और काष्ठमयी मूर्तियों में प्रतिष्ठित होकर सबका कल्याण करेंगे।

विद्यापति पुरुषोत्तम क्षेत्र की परिक्रमा कर राजा के पास गये और उन्होंने विश्वावसु द्वारा दिये गये पुष्पहार और प्रसाद उन्हें सौंपा। राजा पुष्पहार पहनकर तथा प्रसाद ग्रहण कर अपने को धन्य मानने लगे। वहीं उन्होंने जगन्नाथजी की भावपूर्ण स्तुति की। विद्यापति ने नीलमाधव एवं पुरुषोत्तम क्षेत्र का समस्त वृत्तान्त सुनाया। राजा ने विद्यापति से पूछा कि आप तो इससे पहले कभी पुरुषोत्तम क्षेत्र नहीं गये थे, तब इतने कम समय में आपके इतने रहस्यों की जानकारी कैसे मिल गयी। विद्यापति ने बतलाया कि वहाँ जगन्नाथजी के मुख्य अर्चक विश्वावसु नामक शबर से मेरी मैत्री हो गयी और उन्हीं से समस्त रहस्यों का पता लगाने में मैं समर्थ हो सका। राजा ने भी पुरुषोत्तम क्षेत्र की तीर्थयात्रा का आदेश दिया। उसी समय नारद मुनि भी वहाँ पहुँचे और वे भी साथ चल पड़े। मार्ग में नारद ने भी इन्द्रद्युम्न को पुरुषोत्तम क्षेत्र एवं जगन्नाथजी के बारे में बहुत सी बातें बतलायीं। उन सबकी मुलकात ओढ़ राजा से हुई, जिससे ज्ञात हुआ कि नीलाचल पर्वत पर भगवान् थे किन्तु अब वे अन्तर्हित हो गये हैं। महानदी तट पर विश्राम करने के बाद वे एकाम्र क्षेत्र (भुवनेश्वर) पहुँचे, जहाँ भगवान् शिव ने राजा इन्द्रद्युम्न को अश्वमेध यज्ञ करने तथा नृसिंह मन्दिर बनवाने का आदेश दिया। उन्होंने नारद से भी कहा कि राजा को वह अद्भुत ब्रह्मस्वरूप वृक्ष दिखलाओ, जिससे विश्वकर्माजी चार काष्ठमयी प्रतिमाओं का निर्माण करेंगे और उन प्रतिमाओं की स्थापना करने के लिए स्वयं ब्रह्माजी पधारेंगे। नारद भगवान् शिव की आज्ञा शिरोधार्य कर राजा एवं विद्यापति के साथ आगे बढ़े। पुरुषोत्तम क्षेत्र में वे सब सर्वप्रथम नीलकण्ठ महादेव का दर्शन करने गये; वहाँ महादेव एवं दुर्गा माता की पूजा-अर्चना करने के बाद नृसिंह भगवान् का दर्शन करने के लिए निकले। तदनन्तर वे भगवान् जगन्नाथजी का दर्शन करने के लिए गये। वहाँ राजा इन्द्रद्युम्न ने बहुत

ही भावपूर्ण स्तुति की और जगन्नाथजी के विग्रह के दर्शन की कामना प्रकट की। उसी समय आकाशवाणी हुई — 'राजन् चिन्ता न करो। मैं तुम्हें प्रत्यक्ष दर्शन दूँगा; नारद को जो बतलाया गया है, उसके अनुरूप कार्य करो।' नारदजी के कहने पर राजा ने नृसिंह भगवान् के मन्दिर का निर्माण कराया। इस निर्माण में विश्वकर्मा के पुत्र सुघटक ने शिल्पी की भूमिका निभायी। तदनन्तर इन्द्रद्युम्न द्वारा सहस्र अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया गया। अन्तिम यज्ञ में राजा ने अविनाशी विष्णु भगवान् का गहन ध्यान किया, जिसमें उन्हें भगवान् का व्यापक दर्शन हुआ। पूर्णाहुति के समय नारद ने राजा को बतलाया कि जिस अविनाशी विष्णु का दर्शन आपने ध्यान में किया, उनके शरीर से गिरा हुआ रोम वृक्ष हो जाता है। इस प्रकार वृक्ष पृथ्वी पर स्थावर रूप में भगवान् का अंशावतार माना जाता है। नारद मुनि ने राजा को बतलाया कि भक्त-वत्सल भगवान् अब उसी रूप में अवतीर्ण होंगे, जिसका श्रेय आपको ही मिलेगा।

नारद मुनि के साथ इन्द्रद्युम्न उस अंशावतार वृक्ष के पास गये, जिसकी चार शाखाएँ सुशोभित थीं। उस वृक्ष के दर्शन से नीलमाधव के अन्तर्हित होने का जो शोक था वह दूर हो गया। उस वृक्ष को यज्ञ की बलिवेदी के पास श्रोत्रिय ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और सत् शूद्र सब मिलकर उठा लाये। इसके बाद जब राजा ने नारद से पूछा कि इस वृक्ष से प्रतिमा कैसे बनेगी। तब नारद ने उत्तर दिया कि भगवान् की लीला अपरम्पार है; उनकी लीला को कोई नहीं जान सकता है।' उसी समय आकाशवाणी हुई कि इसे पन्द्रह दिनों तक ढँक दिया जाये और जो बूढ़ा बड़ई उपकरण के साथ आया है, उसे अन्दर करके द्वार बन्द कर दिया जाये। जब तक प्रतिमा का निर्माण होता रहे, कोई अन्दर झाँके नहीं, अन्यथा वह अन्धा हो जायेगा। इस बीच बाहर बाजे बजते रहें ताकि अन्दर की ध्वनि बाहर कोई सुने नहीं, अन्यथा

वह बहरा हो जायेगा।' इसी निर्देश के अनुसार सारी व्यवस्था की गयी।

पन्द्रहवें दिन भगवान् बलभद्र, सुभद्रा और सुदर्शन चक्र के साथ चार विग्रहों में प्रकट हुए। तदनन्तर पुनः आकाशवाणी हुई, जिसमें चारों प्रतिमाओं को वस्त्र-वेष्टित करने का आदेश दिया गया; विग्रहों के रंग निर्धारित किए गये, जिसके अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण को नीलमेघ के समान श्याम वर्ण, बलभद्रजी को चन्द्र एवं शंख के समान गौर वर्ण, सुभद्रा देवी को कुंकुम के समान अरुण वर्ण तथा सुदर्शन चक्र को लाल रंग का बनाना था। आकाशवाणी में नीलाचल पर कल्पवृक्ष के वायव्य कोण में सौ हाथ की दूरी पर जो स्थल भगवान् नृसिंह मन्दिर के उत्तर भाग में है, उस पर हजार हाथ ऊँचा सुदृढ़ मन्दिर का निर्माण कर उसमें भगवान् की स्थापना का निर्देश था। भविष्यवाणी में यह भी महत्त्वपूर्ण निर्देश था कि अतीत में इस पर्वत पर वैष्णवों में श्रेष्ठ विश्वावसु नामक जो भील नीलमाधव की पूजा-अर्चना प्रतिदिन करते थे और जिनके साथ पुरोहित विद्यापति की मैत्री हो गयी थी, उन्हीं दोनों की सन्ततियों को उत्सवों में, लेप और संस्कार कर्मों में लगाया जाये।

इस भविष्यवाणी से भी जगन्नाथ मन्दिर के उत्सवों एवं संस्कारों में दलितों की प्रमुख सहभागिता की पुष्टि होती है।

आकाशवाणी के विराम के बाद राजा ने लेप आदि संस्कारों के बाद महावेदी का आवरण का हटवाया, तब भगवान् श्रीकृष्ण, बलभद्र, सुभद्रा एवं सुदर्शन चक्र की मनोरम प्रतिमाओं की झाँकी दीखी। राजा इन्द्रद्युम्न भाव विभोर होकर स्तुति करने लगे—

अन्त में राजा ने भगवान् से प्रार्थना की—
परित्राहि जगन्नाथ मग्नं संसारसागरे।
अनाथबन्धो कृपया दीनं मां तमसाकुलम्।।

(२०: २५)

हे भगवान् जगन्नाथ! मैं संसार रूपी समुद्र में डूब चुका हूँ; मेरे चारों ओर अन्धेरा ही अन्धेरा है, जिससे मैं व्याकुल हूँ। हे अनाथों के बन्धु! कृपा कर मुझ दीन हीन प्राणी की रक्षा करें।

तदनन्तर अन्य लोगों और देवताओं ने भी स्तुति की। एक हजार हाथ ऊँचे मन्दिर के निर्माण के बाद ब्रह्माजी ने विग्रहों की प्रतिष्ठा की। स्कन्द-पुराण में जगन्नाथ मन्दिर की स्थापना का जो वृत्तान्त है, उसे संक्षिप्त रूप में यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

भगवान् जगन्नाथ के माहात्म्य के सन्दर्भ में ओड़िया के महाकवि परम भागवत सरला दास द्वारा प्रस्तुत कथा स्कन्द-पुराण की कथा से थोड़ी भिन्नता रखते हुए भी महत्त्वपूर्ण है। सरला दास ओड़िया भाषा के प्रथम महाकवि हैं। ओड़िया साहित्य के निर्माता के रूप में उनके तीन महाकाव्य उपलब्ध हैं। उनकी प्रथम रचना 'विलंका रामायण' है, जिसमें २८०० छन्द हैं। उनका कालजयी महाकाव्य 'महाभारत' उनका श्रेष्ठ महाकाव्य है, जिसमें ८३,००० छन्द हैं। उनकी अन्तिम रचना 'चण्डी-पुराण' है जिसमें ५५०० छन्द हैं।

महाकवि सरला दास ने जगन्नाथजी की स्थापना के बारे में जो कथा अपने 'महाभारत' महाकाव्य में प्रस्तुत की है, उसे संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है। सरला दास की कथा पर बनी जनश्रुति ही ओड़िया में अधिक प्रचलित है। सरला दास की कथा स्कन्दपुराण की कथा से मिलती-जुलती है; किन्तु अनेक प्रसंगों में परिवर्तन भी है, सरला दास ने शबरों द्वारा पूजित नीलमाधव का सम्बन्ध भगवान् श्रीकृष्ण के अ-दग्ध हृदय से जोड़ दिया है। इस कथा के अनुसार त्रेता-युग के बाली का अवतार द्वापर में 'जर' नामक व्याध के रूप में हुआ। उसने वृक्षारूढ़ भगवान् श्रीकृष्ण के तलवे की लाली को शुक के होंठ की लाली समझकर बाण से बीध दिया, जिससे भगवान् श्रीकृष्ण की इहलीला समाप्त हो गयी। अग्नि-संस्कार

में भगवान् श्रीकृष्ण के सभी अंग दग्ध हो गये, किन्तु पर्याप्त प्रयत्न करने भी जब हृदय का भाग दग्ध नहीं हुआ, तब उस अ-दग्ध हृदय को समुद्र में फेंक दिया गया। अपने बाण से योगेश्वर श्रीकृष्ण का निधन हो जाने के कारण आत्मग्लानि में निमग्न जर व्याध समुद्र की लहरों पर तैरते उस हृत्पिण्ड का अनुसरण करने लगा। अनुसरण करते करते वह पश्चिम तट द्वारका से पूर्वी तट पुरी तक पहुँच गया। उसके धैर्य एवं साधना की प्रशंसा करनी होगी! पुरी में प्राचीन काल में एक नदी समुद्र में मिलती थी। एक दिन समुद्री ज्वार में वह अ-दग्ध हृषिकेश-हृदय नदी के मुहाने पर आ गया और सजग, सचेत जर व्याध ने श्रद्धापूर्वक उसका संग्रह कर लिया। जर व्याध पुरी में ही बस गया और वहीं उस हृदय की पूजा करने लगा। समय बीतता गया और वह अ-दग्ध हृदय अशमीभूत हो गया। जर के वंशज शबर उसे कुल-देवता के रूप में पूजने लगे। अपने कुलदेव की गोपनीयता एवं सुरक्षा के लिए शबर सदैव सजग और सतर्क रहते थे। शबरों के पास भगवान् श्रीकृष्ण का हृदय ही सुरक्षित था; इससे बड़ी सम्पदा क्या हो सकती है? जनार्दन की पूजा का इससे बड़ा वास्तविक प्रतीक क्या हो सकता था? आदिवासी शबर सचमुच भाग्यवान् थे।

मालवा (अवन्ती) के राजा इन्द्रद्युम्न की अभिलाषा थी कि पृथ्वी पर विष्णु भगवान् की पूजा के लिए उनका एक असली प्रतीक प्राप्त किया जाये। इसके लिए उन्होंने चारों दिशाओं में अपने दूत दौड़ाये। पूर्व दिशा में ब्राह्मण विद्यापति को प्रेषित किया गया था। अन्वेषण करते-करते विद्यापति पुरी की शबर बस्ती में पहुँचे। विद्यापति का अतिशय आदर-सत्कार शबर-सरदार ने किया। विद्यापति के रूप, यौवन और आकर्षक व्यक्तित्व को देखकर शबर-स्वामी ने अपनी पुत्री का विवाह विद्यापति से कर दिया, यद्यपि विद्यापति अपने को विवाहित बतला

चुके थे। विद्यापति ने शबरों के कुल-देव नीलाश्व मूर्ति के बारे में सुन रखा था; किन्तु शबर अपने कुल-देव की गोपनीयता के बारे में सदैव सतर्क रहते थे; वे किसी भी बाहरी व्यक्ति को न तो देवायतन का पता बतलाते थे, न दर्शन करते देते थे। वे अपने प्राण अर्पण करने को प्रस्तुत रहते थे; किन्तु अपने कुलदेव की गोपनीयता हर स्थिति में अक्षुण्ण रखना चाहते थे। विद्यापति को भी न तो देवालय की स्थिति ज्ञात हो रही थी और न ही दर्शन का अवसर। एक दिन उनकी पत्नी ने, जिसे अपने पितृ-कुल के उस गुप्त देवालय की जानकारी थी, प्रणय एवं समर्पण की मुद्रा में चुपके से विद्यापति को नीलाश्व माधव का दर्शन दिया। यह भगवान् श्रीकृष्ण का हृदय ही था; इससे बड़ा भगवान् का असली प्रतीक और कुछ नहीं हो सकता था; अतः उन्होंने पत्नी एवं परिवार लेकर पुनः आने का बहाना बनाकर वहाँ से विदा ली।

विद्यापति ने जाकर अपने राजा इन्द्रद्युम्न को सारा वृत्तान्त सुनाया। राजा विशाल सैन्य-बल के साथ उस नीलाश्व माधव की प्राप्ति के लिए चला। वहाँ पहुँच कर राजा ने पहले शबर-स्वामी को नीलाश्व माधव समर्पित करने का आदेश दिया। बहुत बार की वार्ता के क्रम में भी शबर किसी भी कीमत पर अपने कुलदेव को सौंपने के लिए सहमत नहीं हुए। तब राजा ने शबरों की बस्ती को घेर लिया; उन्हें अपने सैन्य-बल के जोर से घरों से नहीं निकलने दिया। विद्यापति स्वयं राजा को लेकर शबरों के कुलदेव के मन्दिर में पहुँचे; किन्तु वहाँ नीलाश्व भगवान् मिले नहीं। यह देखकर राजा इन्द्रद्युम्न एवं विद्यापति को घोर निराशा हुई। सर्वत्र अन्वेषण करने पर भी नीलाश्व भगवान् का पता नहीं चला। तब राजा ने वहीं व्रत, उपासना एवं साधना करना प्रारम्भ कर दिया। जब भगवान् प्रसन्न हुए, तब उन्होंने राजा को स्वप्न में बतलाया कि तुमने मेरे इन शबर भक्तों को तंग किया है; उन्हें अपमानित किया है; अतः मैं

अन्तर्हित, अदृश्य हो गया हूँ। अब मैं इस रूप में तो नहीं मिलूँगा; किन्तु तुम्हारी साधना से अब मैं सन्तुष्ट, प्रसन्न हूँ; अतः मैं अब तुम्हें समुद्र के किनारे बहते हुए काठ के बोटे के रूप में कल प्रातःकाल मिलूँगा। राजा प्रातःकाल समुद्र तट पर स्वप्न के अनुसार गया। वहाँ उसने काठ का एक बोटा बहते देखा। उसे निकालने का प्रयास किया; किन्तु विफल रहा। पूरी ताकत लगाने पर भी वह टस-से-मस नहीं हुआ। तब राजा ने अपने बहुत सारे सैनिकों को लगाया और अन्त में सारे सैनिक को भी लगा दिया; किन्तु जनकपुर में स्थित शिव-धनुष की तरह वह हिल नहीं पाया। सब निराश हो चले। राजा को रात में फिर स्वप्न हुआ—‘राजन्! तुम मुझे धन-बल एवं बाहु-बल से प्राप्त करना चाहते हो; यह असम्भव है। तुमने पुनः मेरे भक्तों की उपेक्षा की है। मैं केवल प्रेम या भक्ति के ही अधीन होता हूँ। अतः फिर किसी सैनिक को हाथ लगाने के लिए नहीं कहना। यदि तुम मुझे पाना चाहते हो, तो एक छोर का स्पर्श विद्यापति और दूसरे छोर का स्पर्श शबर-सरदार करे, तो मैं इनकी भक्ति से तुम्हारे अधीन हो जाऊँगा।’

राजा ने वैसा ही किया और भगवान् को दारु (काष्ठ) रूप में पाने में सफलता प्राप्त की। स्कन्द-पुराण एवं सरलादास की कथा में तुलना करने से पता चलता है कि सरलादास ने शबरों के नीलाश्व माधव को भगवान् संसार का सबसे श्रद्धास्पद पदार्थ बना दिया है और शबरों द्वारा इसकी गोपनीयता एवं सुरक्षा के लिए प्राणार्पण की प्रस्तुति की भी प्रासंगिकता दिखलायी है। शबरों के इस कुलदेव की प्रतिष्ठा महाभारत-कालीन जर से करायी गयी है। स्कन्दपुराण के अनुसार नीलमाधव के अदृश्य होने का कारण यम के आग्रह पर नारायण की सहमति है; किन्तु सरलादास के महाभारत में राजा इन्द्रद्युम्न का बल-प्रयोग और शबर-भक्तों को दुःख पहुँचाना है। स्कन्द-पुराण में भी शबर-स्वामी विश्वावसु एवं विद्यापति के वंशजों

को उत्सवों में लेपादि संस्कारों के दैवी अधिकार दिये गये हैं; सरलादास के महाभारत में भी भगवान् को काष्ठरूप में लाने का समान श्रेय विद्यापति और शबर-सरदार को दिया गया है। यहाँ विद्यापति की एक पत्नी शबर-कुल की भी है। अतः हम पाते हैं कि सरलादास ने अपने महाभारत में जगन्नाथजी के वृत्तान्त को और अधिक रोचक बना दिया है।

जगन्नाथ मन्दिर की परम्परा प्रारम्भ से अतिशय उदार रही है। 'जगन्नाथ का भात न पूछो जात-पाँत' की कहावत ऐसी चरितार्थ रही है कि हीन जाति 'सुआरा' द्वारा भगवान् के नैवेद्य के लिए बनाये गये महाप्रसाद का ग्रहण शीर्ष ब्राह्मण भी करते हैं और महाप्रसाद ग्रहण में जाति-पाँति का कोई भेदभाव नहीं बरता जाता है। 'अनवसर' के समय जब भगवान् जगन्नाथ रुग्ण माने जाते हैं, तब आदिवासी वर्ग के 'दैतपति' ही भगवान् की पूजा अर्चना करते हैं। जगन्नाथ मन्दिर में ही ब्राह्मणतर बलरामदास को चैतन्य महाप्रभु ने गुरु माना था और बलराम दास मन्दिर परिसर में ही अस्पृश्य माने जानेवाले बाउरियों को वेदान्त पढ़ाते थे और शूद्र अच्युतानन्द दास एवं अन्य पंचसखा सन्त भक्तों का उद्बोधन करते थे। दलित कुल में जन्मे दासिया बाउरी ने अपनी अनन्य भक्ति प्रदर्शित करने के लिए एक बार एक नारियल जगन्नाथजी का दर्शन करने जा रहे एक ब्राह्मण को यह कहकर दिया था कि जगन्नाथजी को कहना कि यह नारियल दासिया बाउरी ने भेजा है, यदि वे स्वीकार करें तो चढ़ा देना, नहीं तो लेते आना। जब उस विप्र ने दूर से ही दासिया का सन्देश सुनाया, तब जगन्नाथजी ने अपना हाथ लम्बा कर दलित दासिया का नारियल स्वीकार कर लिया और आज भी दलित दासिया की अनन्य भक्ति की स्मृति में रथयात्रा के समय अनगिनत लोग जगन्नाथजी को नारियल चढ़ाते हैं, दासिया के जन्मस्थल पर श्रद्धापूर्वक जाते हैं तथा किसी के घर में नारियल वृक्ष में पहला फल लगता है, वह दलित दासिया की स्मृति में जगन्नाथजी को समर्पित किया जाता है। इसी प्रकार मुस्लिम पिता का पुत्र सालवेग को सम्मानपूर्वक रथयात्रा में शामिल किया जाता था और उनके रचे हुए भजनों का श्रद्धापूर्वक गायन मन्दिर में किया जाता है।

▼

प्रपत्र नियम ८ के अनुसार धर्मायण

१. प्रकाशन का स्थान : पटना
२. आवर्तिता : त्रैमासिक
३. प्रकाशक एवं मुद्रक
का नाम : प्रो० काशीनाथ मिश्र
क्या भारत के नागरिक है? : हाँ
(यदि विदेशी हैं तो मूल देश)
पता : महावीर मन्दिर,
पटना जंक्शन, पटना-१
४. सम्पादकमण्डल : प्रो० काशीनाथ मिश्र
महन्त उद्धवदासजी
डा० श्रीरंजन सूरिदेव
आचार्य किशोर कुणाल
प्रधान सम्पादक : भवनाथ झा
क्या भारत के नागरिक है? : हाँ
(यदि विदेशी हैं तो मूल देश)
पता : महावीर मन्दिर, पटना
जंक्शन, पटना-१
क्या भारत के नागरिक है? : हाँ
(यदि विदेशी हैं तो मूल देश)
पता : महावीर मन्दिर, पटना
जंक्शन, पटना-१
५. स्वत्वाधिकार : श्री महावीर स्थान न्यास
समिति, महावीर मन्दिर,
पटना जंक्शन, पटना-१

मैं प्रो० काशीनाथ मिश्र एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

ह० प्रो० काशीनाथ मिश्र



जगन्नाथ - स्तुति

[स्कन्द-महापुराण के वैष्णव खण्ड के अन्तर्गत सुप्रसिद्ध पुरुषोत्तम-माहात्म्य के वर्णन के क्रम में पुरी में विराजमान भगवान् जगन्नाथ के मन्दिर का निर्माण एवं प्रतिमा स्थापना की विस्तृत चर्चा है। इस क्रम में अवन्ती के राजा इन्द्रद्युम्न एवं उनके राजपुरोहित के अनुज विद्यापति की भी चर्चा है, जिस विद्यापति ने परम भागवत शबरों की सहायता से उनके द्वारा पूजित नीलमाधव का दर्शन किया था। पश्चात् वे नीलमाधव यमराज की प्रार्थना पर लक्ष्मी को वचन देने के कारण विलुप्त हो गये थे, क्योंकि नीलमाधव के दर्शन से सभी प्राणियों को मोक्ष मिलते जाने के कारण यमराज के क्रिया-कलापों में बाधा पड़ती थी। उसी रोहिणी कुण्ड के तट पर जहाँ भगवान् नीलमाधव विराजमान थे; राजा इन्द्रद्युम्न ने भगवान् का दारु-मय विग्रह शबर-बन्धुओं एवं ऋषि नारद की सहायता से स्थापित किया। इस अवसर पर राजा इन्द्रद्युम्न ने भगवान् की भावमयी स्तुति की। 'धर्मायण' के सुधी पाठकों के लिए यह स्तुति स्कन्द-पुराण के पुरुषोत्तम माहात्म्य के २०वें अध्याय से प्रस्तुत है।—सं०]

त्वदङ्घ्रिपाथोजयुगं मुरारे नोपासितं जन्मसु पूर्वजेषु।

तत्कर्मणां दारुणपाकभाजं दीनं परित्राहि कृपाम्बुधे माम् ॥२॥

हे दया के सागर भगवान् जगन्नाथ! आपके चरणकमल की उपासना मैंने पूर्व-जन्मों में नहीं की; अतः उसी कर्म के प्रभाव से इस जन्म में मैं महान् कष्ट का भोग कर रहा हूँ। मुझ दीन हीन की रक्षा करें।

क्व निर्मलं त्वच्चरणाब्जयुगं विरञ्चिरुद्रेन्द्रकिरीटमग्नम्।

क्वाहं कुदीनः शकृदस्रमांसमूत्रास्थिसङ्घैः पिहितस्त्वचा वै ॥३॥

हे जगन्नाथ! ब्रह्मा रुद्र और इन्द्र के मुकुट में प्रतिबिम्बित कहाँ आपका निर्मल चरणकमल! और कहाँ विषा, आँसू, माँस, मूत्र और अस्थि के समूह से बना हुआ और चमड़ा से मढ़ा हुआ कुत्सित एवं दीन मैं!

असारसंसारपरिभ्रमेण श्रमातुरस्त्वां कथमीश जाने।

जानन्ति ते त्वां खलु देवदेव येषां भवो दुःखभवप्रकाशः ॥४॥

हे जगन्नाथ! हे प्रभो! इस असार संसार में जन्म और मृत्यु के बीच घूमने के कारण परिश्रम से व्याकुल मैं आपको कैसे जान पा सकता हूँ? हे देवाधिदेव आपको तो वे जान पाते हैं, जो दुःख के कारण उत्पन्न ज्ञान के प्रकाश से उत्पन्न हुए हैं।

प्रभो मया दुःखमनेकजन्मपापार्जितं भुक्तमनेकभावम्।

शुभार्जितो यः सुखलेशभावो निदर्शनं यन्मधुपृक्ततिक्ते।।५।।

हे प्रभो! अनेक जन्मों में किये गये पापों से अर्जित दुःखों को मैंने कई प्रकार से भोग लिया है। शुभ कर्मों से अर्जित जो अल्प सुख है, उसका उदाहरण भी थोड़ा मीठा और थोड़ा कड़वा है।

यदेव सौख्यानुभवाय देव कर्मार्जितो मे विषयोपभोगः।

स एव दुःखं परिणामतो मे न मद्दिधो दुःखिजनोऽस्ति चान्यः।।६।।

हे देव! राजा के रूप में मेरा विषय भोग यदि मेरे कर्म से उपार्जित सुख के लिए है तो यह अन्ततः वह दुःख ही है। इस प्रकार मेरे जैसा दुःखी इस संसार में दूसरा कोई नहीं।

विभो यदि त्वां मनसापि पूर्वमुपास्तमन्यद्विषमेक्षणोऽहम्।

कथं तदा लप्स्यमनेकजन्म पुनः पुनर्भोग्यमशेषदुःखम्।।६।।

हे प्रभो! यदि मैंने पूर्व-जन्म में मन से भी आपकी उपासना की होती, तो मेरे अनेक जन्म कैसे होते और कैसे मैं बार बार समस्त कष्टों को भोगता: किन्तु उस समय तो मेरी आँखें विषम हो चली थी।

विभुत्वदासत्वपितृत्वपुत्रप्रियत्वमातृत्वधनित्वभावैः ।

वध्यत्वहिंस्रत्वपतित्वजायाभावैश्चितिर्यक्त्वसुरादिभावैः ।।७।।

नीचोद्ध्वर्धभावं बहुशः सकृद्वा भवाङ्गणेऽस्मिन् लुठतानुभूतम्।

न वा मुरारे तव पादपद्मदूरीभवस्येष्टफलं हि चैतत्।।८।।

हे प्रभो! कभी स्वामी तो कभी दास, कभी पिता तो कभी पुत्र, कभी प्रिय, कभी माता, कभी धनी, कभी वध्य तो कभी वधिक, कभी पति तो कभी पत्नी, कभी पशु-पक्षी तो कभी देव के रूप में मैंने कभी ऊँचा चढ़ा, तो कभी नीचे गिरा। इस प्रकार अनेक या एक बारिस संसार रूपी आँगन में लोटते हुए मैंने अनुभव किया है। हे मुरारे क्या यह आपके चरण कमल से दूर रहने का फल तो नहीं है?

कोशं बलं चैतदशेषपृथ्वीधनैर्वृतं यौवनरूपरूप्यः।

मनोऽनुकूलाः शतशः स्त्रियश्च निष्कण्टकं मे नृपमण्डलं च।।९।।

साम्राज्यता चापि भरो महान्मे त्वज्ज्ञानहीनस्य पशोरिवायम्।

भारावतारं कुरु मे कृपाब्धे सदैव तत्रोदितखेदयोगः।।१०।।

मेरा यह कोष, यह सेना, पार्थिव धन-सम्पदा से घिरी हुई यह समस्त पृथ्वी, यह युवावस्था और सौन्दर्य, सैकड़ों मनोनुकूल स्त्रियाँ, राजाओं का यह निष्कण्टक समूह तथा मेरा यह साम्राज्य— ये सब मेरे लिए महान् भार हैं। आपको नहीं जान सकने के कारण मैं पशु के समान इन भारों को ढो रहा हूँ। हे कृपा के सागर! मेरे इस भार को तथा इससे उत्पन्न कष्ट को उतार दें।

दीनानुकम्पिन् करिणो विमुक्तिः कृता विभो त्वत्सृतिमात्रकेण।

भ्रान्तं घटीयन्त्रवदत्र नाथ मां त्रातुमर्हस्यनुकम्पिभावात्।।११।।

हे दीनों पर दया करने वाले भगवान्! आपने स्मरण मात्र से गजराज का उद्धार किया। मैं भी घड़ी के पेंडुलम की तरह घूम रहा हूँ। हे नाथ! मेरे ऊपर अनुकम्पा कर मेरी भी रक्षा करें।

न मे त्वदन्यः खलु बन्धुरत्र प्रवाहविभ्रष्टतरुस्वभावे।

पापीयसी बुद्धिरुपेतभावा स्नेहानुबन्धा विषयेऽभिभेद्या।।१२।।

हे भगवान्! लहरों के कारण मिलते-बिछुड़ते वृक्षों के समान मिलने-बिछुड़ने की घटना वाले इस संसार में आपके सिवा मेरा कोई बन्धु नहीं। इस संसार में नजदीक लानेवाली, स्नेह सम्बन्ध स्थापित करनेवाली तथा पुनः वियोग कराने वाली जो मेरी बुद्धि है, वह तो पाप से भरी है।

अहर्निशं मे तव पादपद्मान्नापैतु मत्प्रार्थितमेतदेव।

त्वां सच्चिदानन्दसुपूर्णसिन्धुं प्राप्तास्तु ये जन्मसहस्रभाग्यैः।।१३।।

हे भगवान्! मेरी यही प्रार्थना है कि मुझे दिन-रात अपने चरण-कमल से अलग न करें। जिन्होंने हजारों जन्म में अर्जित भाग्य से पूर्ण समुद्र के समान आप सच्चिदानन्द को पा लिया है, उन्हें भी अलग न करें।

किं ते हि पश्यन्ति लवैकसौख्यमनेकदुःखं विषयेन्द्रजालम्।

क्व बन्धनं कर्मभिरिष्टलेशदुःखाकरग्रन्थिशतैरभेद्यम्।।१४।।

दूसरे तो एक छोटे से सुख के लिए विषय-वासना रूपी उस इन्द्रजाल को देखते हैं, जिसमें अनेक दुःख हैं; जो अपने कर्मों के कारण अभीष्ट दुःखों का सागर है तथा हजार गाँठों के कारण अभेद्य है।

अनन्तमाद्यन्तविहीनमेकमानन्दं त्वत्पदपङ्कजं क्व।

मायाम्बुधौ मे ममता भ्रमौ च कुकर्मनक्रायितगर्तमध्ये।।१५।।

निराश्रयं मे पतितं विलासकटाक्षपातेन नयाद्य तीरम्।

स्वकार्यसंसाधनयाश्रितानां सम्पादनायेष्टविधेरजस्रम्।।१६।।

आदि एवं अन्त से रहित, अनन्त एवं आनन्ददायक आपका चरणकमल कहाँ? मैं तो माया के समुद्र में कुकर्म रूपी मगरमच्छ से भरे गर्त में ममता लिये घूम रहा हूँ। विलास के लिए कामिनियों के कटाक्ष से मैं इस गर्त में निराश्रित होकर गिर पड़ा हूँ। हे प्रभो! मुझे किनारा लगा दें, जिससे आपका आश्रित होकर मैं अभीष्ट कार्यों को निरन्तर करता रहूँ।

भ्राम्यन्तमात्मीयहितं विसृज्य मां त्राहि मूढं सहजानुकम्पिन्।

क्षुद्राय कार्याय बहुभ्रमन्तमप्राप्य मूलं परमेश्वरं त्वाम्।।१७।।

स्वाभाविक रूप से कृपा करनेवाले हे प्रभो! मैं मूर्ख हूँ; आत्म कल्याण की बात को छोड़कर मैं भटक रहा हूँ। हे प्रभो! मूल परमेश्वर आप को छोड़कर छोटे-छोटे कार्यों के फेर में मैं भटकता रहा हूँ; आप मेरी रक्षा करें।

आयासपात्रं परमं सुदीनं मां त्राहि विष्णो जगदेकवन्द्य।

वेदान्तवेद्याव्यय विश्वनाथ त्वमीशिषे हन्तुमघौघराशीन्।।१८।।

मैं यत्न पूर्वक उद्धार पाने लायक हूँ; परम दीन हूँ। हे विष्णो आप इस जगत् में एक मात्र वन्दनीय हैं। आप मेरी रक्षा करें। हे विश्वनाथ! वेदान्त के द्वारा ज्ञेय! अविनाशी! आप पाप के समूह का नाश करने में समर्थ हैं।

तं त्वां परित्यज्य सुखैकहेतुं क्षुद्राशयं मां परिपाहि विष्णो।

प्रसुप्त एषोऽखिलभूतसङ्घश्चतुर्विधो यत्कृतमोहरात्रौ।।१६।।

जिनके द्वारा बनायी गयी मोहरात्रि में चार प्रकार के प्राणियों का समूह सो जाता है, ऐसे आपको, जो सुख के एकमात्र कारण हैं- छोड़कर मैं क्षुद्र उद्देश्य की पूर्ति में लगा हुआ हूँ। हे विष्णो! मेरी रक्षा करें।

त्वज्ज्ञानभानूदयमेत्य चान्ते प्रबोध्यते त्वां शरणं प्रपद्ये।

त्वमेक एवाखिललोककर्ता फणासहस्रैः परिवीतमूर्तिः।।२०।।

आपके विषय में ज्ञान सूर्योदय के समान है। उसे पाकर लोग जग जाते हैं। मैं आपकी शरण में आ रहा हूँ। शेषनाग के हजार फणा से घिरी हुई मूर्तिवाले आप ही सम्पूर्ण लोक के कर्ता हैं।

पर्यायवृत्त्या वलिनां वरिष्ठ त्वामीशितारं शरणं प्रपद्ये।

यया सृजस्यत्सि जगन्ति नाथ वक्षःसरोजासनया स्वशक्त्या।

तां भक्तिरूपां जगदाश्रयां ते देवारणिं पादयुगे नतोऽस्मि।।२१।।

हे बलशालियों में श्रेष्ठ! आप ईश्वर हैं। मैं आपका शरणागत हूँ। हे नाथ! अपने वक्षःस्थल रूपी कमल पर स्थित अपनी जिस शक्ति से आप सभी जगत् का सर्जन एवं भक्षण (संहार) बारी बारी से करते हैं, संसार के आश्रय तथा जलावर्त के समान उस भक्ति के प्रति तथा आपके चरण कमलों में नतमस्तक हूँ।

यदंशुजालप्रतिसृष्टमेतद् ब्रह्माण्डजालं करसंगि नाथ।

सुदर्शनं दैन्यबलस्य हन्तु चक्राभिधं त्वां प्रणतः सुदर्शनम्।।२२।।

हे सुदर्शन चक्र! भगवान के हाथ में सदा रहने वाला, दीनता की सेना का विनाश करनेवाला, सुन्दर दीख पड़ने वाला तथा चक्र नामधारी आपको प्रणाम करता हूँ। आपकी ज्योति से फैले हुए इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का संहार होता है।

अन्त में राजा ने भगवान् से प्रार्थना की—

परित्राहि जगन्नाथ मग्नं संसारसागरे।

अनाथबन्धो कृपया दीनं मां तमसाकुलम्।।२३।।

भारतीय कालगणना एवं नवसंवत्सरोत्सव

आचार्य चन्द्रकिशोर पाराशर

जगत् का आदि गुरु और संसार में सबसे पहले सभ्यता और विज्ञान का प्रसार करनेवाले भारतभूमि पर कालगणना की पद्धति भी अतिप्राचीन व वैज्ञानिक है। कालगणना की ही एक शैली वर्षगणना भी है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि किसी जाति का अस्तित्व और उन्नति का इतिहास कालगणना का वर्षगणना से जुड़ा होता है। आर्य जाति की कालगणना की पद्धति जिसे

‘संवत्सर’ कहते हैं, इतना प्राचीन है कि उसको समझ पाने में पश्चिम जगत् सर्वथा असमर्थ है। भारतवर्ष के अतिरिक्त विश्व की अन्य किसी भी सभ्यता एवं संस्कृति में इसका प्रामाणिक उदाहरण और कहीं नहीं मिलता है, जहाँ कालगणना

द्वारा सृष्टि के जन्म को भी वर्षों और दिवसों में अंकित किया जाता है। यह इस बात का प्रबल प्रमाण है कि आर्यावर्त के ऋषि-मनीषी इतिहास-विद्या के काल गणना (क्रोनोलॉजी) में भी पूर्ण निष्णात थे। परन्तु चिन्ता का विषय यह है कि आधुनिक काल में भारतवासी अपने

प्राचीनतम कालगणना पद्धति को छोड़, अंग्रेजों द्वारा बताए गए ‘ईसबी सन्’ का अपना चुके हैं, जो मात्र दो हजार वर्ष पुराना है।

वैदिक काल गणना पद्धति

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धान्तपसोऽध्यजायत।
ततो राज्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥
समुद्रादर्णवादिधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्रिणि विदधद्विष्वस्य मिखतो वशी ॥”
ऋग्वेद के उपर्युक्त मन्त्रों में सृष्ट्युत्पत्तिक्रम

समय की इकाई का निर्धारण भारतीय ज्योतिष-शास्त्र का प्रधान क्षेत्र रहा है। ‘टिकाल’ से कल्प तक की गणना कालखण्ड के निर्धारण में की गयी है। इसी सन्दर्भ में सूर्य द्वारा पृथ्वी की एक परिक्रमा (आधुनिक सन्दर्भ में पृथ्वी द्वारा सूर्य की एक परिक्रमा) में लगा कालखण्ड एक वत्सर, संवत्सर या वर्ष के नाम से अभिहित है। इस संवत्सर के आरम्भ और उस अवसर के उत्सव पर आलेख प्रस्तुत है।

का उपदेश देते हुए बताया गया है कि प्रदीप्त आत्मिक तप के तेज से ऋत और सत्य नामक सर्वकालिक और सार्वभौमिक नियमों का प्रथम प्रादुर्भाव हुआ। तत्पश्चात् प्रलय की रात्रि हो गई। फिर

मूल-प्रकृति में विकृति होकर उसके अन्तरिक्षस्त समुद्र के प्रकट होने के पश्चात् विश्व के वशीकर्ता विश्वेश्वर ने अहोरात्रों को करते हुए संवत्सर को जन्म दिया। इससे ज्ञात होता है कि यदि सृष्टि में प्रथम सूर्योदय के समय भी संवत्सर और अहोरात्रों की कल्पना परब्रह्म के अनन्त ज्ञात में

विद्यमान थी। 'समुद्रादर्णावादधिसंवत्सरो...' संवत्सरारम्भ और उसके मन की कल्पना का ज्ञान सर्वप्रथम मन्त्रद्रष्टा ऋषियों को हुआ था कि प्रत्येक सृष्टिकल्प के आदि में यथानियम होता है। उन्होंने यह जान लिया कि इतने अहोरात्रों के पश्चात् आज के दिन नवसंवत्सर के शुभारम्भ का नियम है और उसी के अनुसार प्रतिवर्ष संवत्सरारम्भ होकर वर्ष, माह और अहोरात्र की कालगणना संसार में प्रचलित हुई। कालगणना यहीं से प्रारम्भ हुआ और कालक्रम से आगे चल कर ज्योतिष विद्या के विकास एवं विस्तार के साथ-साथ यह विविध रूपों और पद्धतियों तथा भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाने लगा।

भारतीय काल गणना पद्धति में मासों के नामकरण हेतु यह नियम बनाया गया कि जिस पूर्णिमा को जो नक्षत्र पड़ेगा। वह पूर्णिमा उसी नक्षत्र की नामधारणी होगी और पूर्णिमा के नक्षत्रयुक्त नाम के अनुसार ही माह का नाम भी रखा जाएगा। यथा- जिस पूर्णमासी को चित्रा नक्षत्र हो वह चैत्री कहलाएगी और चैत्रे पूर्णमासी वाले माह को चैत्र मास कहा जाएगा। इसी नियम के अनुसार बारह माह का नामकरण चैत्र, वैशाख आदि हुआ। महामुनि पाणिनि ने अपने प्रसिद्ध अष्टाध्यायी में इसी नियम को 'सास्मिन्पूर्णांमासीति' कह कर सूत्रित किया है।

पुण्यस्मरणीय युगारम्भ दिवस

ऐसी मान्यता है कि भारतीय विद्या में काल गणना सृष्टि के निर्माण के साथ ही प्रारम्भ हो गया था। इसकी पुष्टि में ज्योतिष के हिमाद्रि-ग्रन्थ में निम्नलिखित श्लोक आया है-

**चैत्र मासि जगद् ब्रह्मा ससर्ज प्रथमेऽहनि।
शुक्लपक्षे समग्रन्तु, तदा सूर्यादये सति॥"**

अर्थात्, चैत्र माह के शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन सूर्योदय के समय ब्रह्माजी ने जगत् की रचना की थी। अतः यह तिथि 'युगारम्भ दिवस' के रूप में पुण्यस्मरणीय है और इसी तिथि से प्रारम्भ हुई वर्ष गणना को 'युगादि' अथवा 'सृष्टि-संवत्' कहते हैं। शास्त्रज्ञों के अनुसार सृष्टि का जन्म आज से १३ अरब, ६७ करोड़, २६ लाख, ४६ हजार, १०६ वर्ष पूर्व हुआ था। इसीलिए चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को भारतीय नववर्ष अथवा 'संवत्सरेष्टि' के रूप में आयोजित किया जाता है। बाद के समय में इसी तिथि को अनेक संवत्तों का शुभारम्भ हुआ। प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य भास्कराचार्य कृत 'सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ में निम्न प्रकार से इस विषय को पद्य-रूप में वर्णित किया गया है-

लङ्कानगर्यामुदयाच्च भानो-

स्तस्यैव वारं प्रथमं बभूव।

मधोः सितादेर्दिनमासवर्ष-

युगादिकानां युगपत्प्रवृत्तिः।"

अर्थात्, लंका नगरी में सूर्य के उदय होने पर उसी के वार (अर्थात् रविवार) में चैत्र मास शुक्ल पक्ष के आरम्भ में दिन, मास, वर्ष, युग आदि एक साथ प्रारम्भ हुआ। आगे चलकर इस पूर्व परम्परानुसार आर्य्यों के अधिकांश संवत् चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से ही प्रारम्भ किए गए। यथा- कलि संवत्, श्रीकृष्ण संवत्, बौद्ध संवत्, वीर संवत्, मौर्य संवत्, फसली संवत्, दयानन्द संवत् आदि आदि।

ज्ञातव्य है कि इस संवत्सरों की स्थापना हमारे पूर्वजों के जन्म पराक्रम अथवा महाप्रयाण की पुण्य स्मृति के रूप में की गई, जिसे हम विस्मृत करते जा रहे हैं।

संवत्सरो का मिथक और यथार्थ

यह विस्मयकारी विषय है कि भारत के ही कुछ विद्वानों द्वारा भारतीय काल गणना तथा संवत्सरो को मिथक कहते हुए यह कुतर्क प्रस्तुत किया जाता है कि इस में यथार्थ और वैज्ञानिकता नहीं है; अपितु, संवत्सर भारतीय लोकपरम्परा के प्रति श्रद्धा मात्र है। जबकि वास्तविकता यह है कि संवत्सर का उद्गम भारत के प्राचीन वाङ्मय, वेद वेदान्तों, स्मृतियों आदि द्वारा प्रमाणित है, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। ऋग्वेद के अतिरिक्त यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में भी संवत्सर का उल्लेख अनेक मंत्रों में आता है। यथा, अथर्ववेद का यह मंत्र द्रष्टव्य है-

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे।

सा न आयुश्मती प्रजां रायस्पोशेण संसृज॥”

(अथर्व. ३.१०.१)

इसी प्रकार यजुर्वेद का उक्त मंत्र भी द्रष्टव्य है

“संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसीदावत्सरोऽसीद्वत्सरोऽसिवत्सरोऽसि। उशासस्ते कल्पन्तामहोरात्रास्ते कल्पन्तामर्धमासास्ते कल्पन्तां मासास्ते कल्पन्तामृतवस्ते कल्पन्ता समवत्सरस्ते कल्पताम् प्रेत्या एत्यै सञ्चाञ्च प्रचसारय। सुपर्णाचिदसि तथा देवतयागिरिस्वद् ध्रुवःसीद॥”

यजु.अ.२६- मं.४५)

भ्रमवश कुछ विद्वान् इस बात को भी आरोपित करने से नहीं चुकते हैं कि भारत में शासक वर्ग अपनी इच्छा से अपने नामों पर संवत् स्थापित कर देते हैं इसके स्थापना का कोई मानदंड नहीं होता है। यह आरोप निरोधार है। यथार्थ तो यह है कि संवत् की स्थापना के लिए अत्यन्त कड़े मानदण्ड है, जिसका परिपालन

किये जाने पर ही किसी नये संवत् को सामाजिक मान्यता मिलती है। उदाहरण स्वरूप भारतवर्ष में सबसे अधिक लोकप्रिय विक्रम संवत् की स्थापना का उल्लेख करना आवश्यक है। सम्राट् विक्रमादित्य अत्यन्त पराक्रमी, वीर प्रजापालक और प्रकाण्ड विद्वान् थे। वे कृषि पण्डित, गोवंश विशेषज्ञ तथा वैज्ञानिक थे। उनके शासन में वही व्यक्ति विधायक बन सकता था जो हल चलाना जानता हो। उनके शासन काल में कृषि, गोवंश, विज्ञान तथा मौसम विज्ञान आदि का यथेष्ट संवर्द्धन एवं अन्वेषण हुआ। उन्होंने हूण, शकादि विदेशी आक्रान्ताओं और समुद्री दस्युओं को अपने पराक्रम और शक्ति से परास्त किया तथा कश्मीर से कन्याकुमारी तक एवं हिन्दूकुश से लेकर ब्रह्मदेश तक फैले विशाल भारत को एक सूत्र में बांध कर शक्तिशाली बनाया तथा चक्रवर्ती सम्राट् कहलाए। उन्होंने पारशियों पर अपने विजय की स्मृति में विक्रमी संवत् चलाने की इच्छा अपने मंत्रिमंडल के समय व्यक्त किया तथा उनकी स्वीकृति के उपरान्त ज्योतिषशास्त्रियों से परामर्श किया। तदनन्तर वात्स्यायन भारद्वाज की अध्यक्षता में धर्मसभा, बुलायी गयी, जिसमें सम्राट् विक्रमादित्य के शौर्य, पराक्रम, सेवा, विद्वता आदि की समीक्षा के उपरान्त उन्हें अपने नाम पर संवत्सर चलाने का अधिकार प्रदान किया गया। तब जाकर उन्होंने आज से २०६१ वर्ष पूर्व विक्रमी संवत् को प्रतिष्ठित किया तथा चक्रवर्ती सम्राट् के रूप में ३५ वर्षों तक आर्यावर्त का शासन संचालित करते रहे।

संवत्सरो की गणना पद्धति की एक और विशेषता का उल्लेख किया जाना आवश्यक है।

वह यह कि जब सृष्टि संवत् का प्रारम्भ चैत्र सुदी प्रतिपदा को हुआ था, तो उस समय सौर मेष संक्रान्ति एक साथ ही पड़ी थी, परन्तु बाद के काल में सौर और चन्द्र वर्षों की दो प्रकार की गणना प्रचलित होने पर सौर और चन्द्र संवत्सर पृथक् हो गए। चन्द्र संवत्सर का आरम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को और सौर संवत्सर का आरम्भ मेष संक्रान्ति के दिन से होता है। फिर भी इन दोनों प्रकार की गणना पद्धति के मास, दिवस आदि की गणना में कोई अन्तर नहीं आता है। मुसलमान, ईसाइ, पारसी आदि अन्य पंथ तथा जातियों में नववर्षारम्भ के दिन केवल प्रसन्नता, प्रदर्शन और मनोरंजन करने की रीति है। परन्तु आर्य जाति में इस दिवस को आनन्दानुभव के साथ-साथ यज्ञ आदि धर्मानुष्ठानपूर्वक उत्सव मनाने की रीति है, जिसमें फुहड़पन लेश मात्र भी नहीं होता।

काल गणना पद्धति का अन्वेषण और विकास विश्व में प्रथमतः आर्यावर्त की भूमि पर होने के उपरान्त भी आज भारतवासी अपने संवत्सर के प्रति पूर्णतः उदासीन है। आठ सौ वर्षों के मुगलिया अत्याचारपूर्ण शासनकाल में आर्यों की सनातन संस्थाएं अस्त-व्यस्त कर दी गई, फिर भी नवसंवत्सरोत्सव मनाने की परम्परा समाप्त नहीं हुई। संवत्सरोत्सव की जानकारी देते हुए परम अत्याचारी मुगल बादशाह औरंगजेब अपने ज्येष्ठ पुत्र मोहम्मद मोअज्जम के नाम पत्र में लिखता है-

ईरोज ऐयाद स्त, व एकाद-कफ्फारह-
नूद रोज ए जलूस विक्रमजीत लाईन व मबदाए
तारीख ए हिन्दूज ।

अर्थात्, यह दिन अग्निपूजकों (पारसीयों) का पर्व है और काफिर (धर्मशून्य) हिन्दुओं के विश्वासानुसार धिक्कृत विक्रमजीत की राज्याभिषेक तिथि है और भारतवर्ष का नवसम्बत्सरारम्भ दिवस है।

तदन्तर अंग्रेजों के दो सौ वर्षों के अनाचारपूर्ण शासनकाल में भारत की सभ्यता और संस्कृति को मटियामेट करने का कुचक्र तो चलाया ही गया, साथ ही यहाँ के हिन्दू समाज को चेतनाशून्य बनाने का भी सफल उपक्रम किया गया । परिणामतः 'हम आर्य हैं' अर्थात् 'हम श्रेष्ठ हैं'- हिन्दू समाज के इस भाव का विस्मरण तो हो ही गया, साथ ही हम अपनी परम्पराओं, ज्ञानधाराओं और आचारों-व्यवहारों को भी भूल बैठे एवं हम पशुतुल्य हो गए। चरवाहे (शासक) ने जिधर हाँक दिया उधर ही चल पड़े। परिणामतः हम पूरब को भूलते गए और पश्चिम को अपनाते गए । पाश्चात्य सम्मोहन से हम स्वाधीन भारत में भी नहीं उबर पाये और अफीम के नशे की तरह महानिद्रा की स्थिति हो गई हमारी । हम भूल गए आर्य परम्परा और रीति-रिवाजों को । यहाँ तक कि हम अपने दिवस, वर्ष और संवत् को भी भुला बैठे और ईसवी सन् ही हमारे मानस पटल पर अंकित रह गया । यह भयंकर शून्यता नहीं तो और क्या है?

सेनापति भवन, सिकन्दरपुर

मुजफ्फरपुर (बिहार)

▼

सामवेद ज्ञान का भण्डार है

कमलेश नन्दिनी

वेद विश्व का सर्वोच्च और अनादि ज्ञान है। जिस शब्दात्मकवेद को हम सुनते और पढ़ते हैं, वह यद्यपि भौतिक और देश-काल की सीमा के आबद्ध है, पर उसका सूक्ष्म या अभौतिक रूप, जिसका

परावाक् कहा जाता है, अनादि और अनन्त है।

जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है, “वेद सबसे अधिक प्राचीन है।

इनमें मानव मस्तिष्क

की प्रथम उपज मिलती है”

यूरोप के सुप्रसिद्ध दार्शनिक मेटर्लिक ने कहा है “वेद ही एकमात्र ज्ञान के भण्डार हैं जिनकी तुलना हो ही नहीं सकती। वेदों में गूढ़ रूप से अर्थात् बीजरूप में संसार की समस्त विद्याओं का आदेश सन्निहित है। केवल सूक्ष्मदर्शी की अन्तर्दृष्टि ही वेदों में भरे सूक्ष्म ज्ञान का प्रकट कर सकती है। यह तथ्य निस्सन्देह आश्चर्योत्पादक है कि हमारे आज ऐतिहासिक काल के पूर्वजों ने, जिनके विषय में यह कल्पना की जाती है कि वे अज्ञान की भयंकर अवस्था में थे, कहां से और कैसे असाधारण और अर्न्तज्ञान प्राप्त कर लिया था, जो आज भी हमारे लिए असम्भव सिद्ध हो रहा है।

विश्व के बुद्धिवादी विद्वान् भी यह स्वीकार कर चुके हैं कि वेद संसार के सब से प्राचीन धर्म ग्रन्थ हैं और उनमें सृष्टि विद्या के जिन मूल तत्वों का वर्णन किया गया है, वे पूर्णतः विज्ञान और तर्क सम्मत है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, एवं अथर्ववेद-इन चारों वेदों में यद्यपि सामवेद भारतीय संगीत परम्परा के उद्गम-स्थल के रूप में विख्यात है, किन्तु इसमें भी आर्ष-ज्ञान के रत्न भरे-पड़े हैं। सामवेद के १५४६ मन्त्रों में केवल ७५ मन्त्र मौलिक हैं, शेष ऋग्वेद से संकलित किये गये हैं। फिर भी ज्ञान के भाण्डागार के रूप में सामवेद का महत्त्व कम नहीं। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत है यह आलेख।

वेद किसी जाति, सम्प्रदाय या देश के विचार से नहीं किये गये हैं, वरन् मानव प्रकृति को ध्यान में रखकर मनुष्य मात्र के कल्याणार्थ उनकी योजना निर्मित हुई है। इसी से

‘वेदोऽखिलो धर्ममूलम्’ की सार्थकता सिद्ध होती है और इसी से कहा गया है कि वैदिक धर्म मनुष्य की एक जाति या देश के लिये नहीं हे वरन् सार्वभौम है। मनुष्य मात्र अपनी परिस्थितियों के अनुसार उस पर चल सकते हैं और जीवन का सुखपूर्वक अतिवाहित करके अन्तिम लक्ष्य (बन्धनों से मुक्ति) को प्राप्त कर सकते हैं।

वेद चार हैं, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। सामवेद यद्यपि चारों वेदों में आकार की दृष्टि से सबसे छोटा है फिर भी इसकी प्रतिष्ठा सर्वाधिक है। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है, ‘वेदानां सामवेदोऽस्मि’।

(गीता: अ. १०.२२)

सामवेद छोटा होने पर भी सब वेदों का सार रूप है। जैसे चतुर माली उत्तमोत्तम पुष्पों को लेकर एक सुरम्य गुलदस्ता बना देता है, इसी प्रकार समस्त वेदों के चुने हुए अंश सामवेद में एकत्रित किये गये हैं। सामवेद ज्ञान का भाण्डार है। मानव मात्र को जो शिक्षायें दी गयी हैं, वे काफी लाभदायक हैं। सामवेद में भगवान् से प्रार्थना की गई है—

पाहि विश्वस्मा द्रक्षसो अरावणः

प्रस्म वाजेशु नोऽव।

त्वामिद्धि नेविष्ठं देवतातय

आपिं नक्षामहे वृधे॥

(सामवेद उ. १५.१.२.४.(१५.१))

हे अग्ने! अदानशीलों से हमको बचा और संघर्षों से हमारा रक्षक हो। हम यज्ञ-सिद्धि के लिये तुम्हारा आश्रय ग्रहण करते हैं।

इस मन्त्र में ऋषि अदानशीलता, अनुदारता, संकीर्णता, स्वार्थपरता आदि की निन्दा करते हुए तेज स्वरूप परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि ऐसे व्यक्तियों तथा ऐसी भावनाओं से हमारी रक्षा करो क्योंकि इस प्रकार केवल अपना ही स्वार्थ देखनेवाला और दूसरों के स्वप्नों को दबाने की इच्छावाला व्यक्ति ही संसार की दुर्दशा और अधःपतन का मुख्य कारण होता है।

सामवेद में भगवान् से प्रार्थना की गई है—

आ नो मित्रावरूणा धृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्।

मध्वा रजांसि सुक्रत्॥

(सामवेद उ. १.२.१)

हे मित्र, हे वरुण ! हमारी इन्द्रियों के घर रूप देह को प्रकाशयुक्त ज्ञान-रस से सींचों और उत्तम रस से हमारे पारलौकिक स्थानों को भी सिंचित करो।

इस मन्त्र में परमात्मा से यही प्रार्थना की गई है कि वह हमारी इन्द्रियों को ज्ञान रस से सींचें, अर्थात् उनको ऐसा प्रेरणात्मक ज्ञान प्रदान करे कि वे कभी कुपथगामिनी न हो, सत्य और न्याययुक्त व्यवहार को त्याग कर कभी असत् व्यवहार में संलग्न न हो जाये क्योंकि संसार में मनुष्य के सामने हर तरह के ऐसे प्रलोभन आते ही रहते हैं जिससे उसकी न्यायबुद्धि दब जाती है और वह उचित अनुचित का ख्याल छोड़कर केवल अपने लाभ की ही बात सोचने लगता है। पर ऐसा रखने से उसने तो इस लोक में सच्चा सुख मिलता है और न उसका परलोक ही बन सकता है। इसलिये लोक और परलोक के सुधारने के लिए मनुष्य को सदैव परमात्मा से यही प्रार्थना करते रहना चाहिए कि वह हमारी ज्ञान-शक्ति को ऐसी श्रेष्ठ प्रेरणा देता रहे कि उसके द्वारा हम सदैव मंगलजनक कार्य ही करते रहें और विपथगामी होने से बचें।

सामवेद में उपदेश दिया गया है—

अग्ने मृड महान् अस्यय आ देवयुं जनम्।

इयेथ बर्हिरासदम्।

(सामवेद पू. १.३.३)

हे अग्ने तुम महान् एवं गमनशील हो। हमें सुख प्रदान करो। तुम देवदर्शन की कामना वाले यजमान के निकट कुशा रूप आसन पर बैठने के लिए आगमन करते हो।

इस मन्त्र में उपदेश दिया गया है कि यदि वे अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहते हैं तो प्राणस्वरूप भगवान् को अपने हृदयदेश में स्थापित करें, जिससे वहां फैला हुआ अन्धकार दूर होकर कल्याण मार्ग की ओर कदम उठ सके। साथ ही यह भी बतलाया गया है कि भगवान् की प्राप्ति

मनुष्य को केवल बाहरी भजन-पूजन या हवन आदि से नहीं हो सकती वरन् इन कार्यों के साथ उसके भीतर भगवान् का सच्चा भक्तिभाव भी होना चाहिए । बिना आन्तरिक उत्कट अभिलाषा के केवल दिखावे के लिये अथवा दूसरों की नकल करते हुए भगवान् की स्तुति के गीत गा लेने से काम नहीं चल सकता । भगवान् परम दयालु हैं और वे प्राप्त भी हो सकते हैं, पर उसके लिये भक्त होने की शर्त अवश्य है। वे अभक्त मनुष्य को अर्थात् ऐसे लोगों को जिनकी दृष्टि केवल सांसारिक स्वार्थ साधन पर ही रहती है, प्राप्त नहीं हो सकते।

सामवेद में स्पष्ट कहा गया है-

कदा चन स्तरीयसि नेन्द्र सश्चसि दाशुशे।

उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्येत॥

(सामवेद पू. ३.७.८)

हे इन्द्र! तुम हिंसक कदापि नहीं हो । तुम हविदाता के पास ऋत्विज् को प्रेरणा करते हो । हे मघवन्! तुम्हारा बहुत सा दान हमें प्राप्त होता है।

इस मन्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि परमात्मा कभी किसी को अकारण दण्ड नहीं देता, अर्थात् जो लोग कष्ट पाते हैं अथवा जिनका किसी प्रकार का दण्ड मिलता है, वह उनके दुष्कर्मों के फलस्वरूप ही होता है। अन्यथा जो व्यक्ति हृदय से भगवान् भक्त होगा और अन्य प्राणियों को भी भगवान् का बनाया समझकर उनके साथ सद्व्यवहार करेगा, वह न कभी दुखी हो सकता है, न उसका कभी बुरे रूप में नाश हो सकता है। उसे भगवान् अपनी कृपा रूपी दान से सदैव सन्तुष्ट ही रखते हैं।

सामवेद में भगवान् से प्रार्थना की गई है-

**अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि॥**

(सामवेद उ. १.२.१)

हे अग्ने! तुम अज्ञान आदि का भक्षण करने और ज्ञान का प्रकाश करने के लिए यज्ञ को प्राप्त हो । दिव्य गुणों के प्रदाता बने तुम मेरे हृदयासन पर विराजो ।

इस मन्त्र में प्रकाश रूप परमात्मा से यही प्रार्थना की गई है कि वह हमारे अज्ञान और उससे उत्पन्न होने वाले दुर्गुणों को नाश करके हमको सच्चा व कल्याणकारी ज्ञान-मार्ग दिखलावे इसके लिये उपासक को अपना हृदय पवित्र करके उसे सदैव परमात्मा के सम्मुख आसन के रूप में रखना चाहिए, जिस पर विराजमान होकर वह उसे असत्य माग्न पर जाने से रोके और सत्कर्मों की प्रेरणा करें।

सामवेद में कहा गया है-

अलर्षिराति वसुदामुप स्तुहि

भद्रा इन्द्रस्य रातयः।

यो अस्य कामं बिधतो न रोशति

मनो दानाय चोदयन्॥

(सामवेद उ. १०.१०.२.१४)

हे स्तोताओ! सत्यानुयायियों को देने वाले इन्द्र का स्तवन करो। वह कल्याण रूप दान की प्रेरणा वाला उपासक की कामना व्यर्थ नहीं होने देता।

इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ईश्वर सत्यानुयायियों को ही अपना कृपापूर्ण दान देता है। जो लोग उसके आदेशानुसार सत्य के अनुगामी बने रहते हैं, वह उनकी समस्त उचित कामनाओं को पूर्ण करता है। वह परमात्मा न्यायकारी और सत्य प्रिय है। वह कभी असत्य व्यवहार हो आश्रय नहीं दे सकता और न ऐसा व्यवहार करने वाला कभी उसका कृपा पात्र हो सकता है। जो मनुष्य सत्य की महिमा को भूल कर असत्य का मार्ग ग्रहण करते हैं, अपने कार्यों और वचन में

वास्तविकता का भाव नहीं रखते, वे शीघ्र ही अन्य लोगों की निगाहों में गिर जाते हैं चाहे वे कुछ समय के लिये सम्पत्तिशाली दिखाई दें, पर न तो कोई उनको सम्मान की दृष्टि से देखता है और न उनका वैभव स्थायी होता है। इसलिये परमात्मा के आदेशानुसार सदैव सत्य पर ही स्थिर रहना मनुष्य का परम कर्तव्य है।

सामवेद में कहा गया है-

आ वो राजानमध्वरस्य रूद्रं
होतारं सत्ययज्ञं रोदस्योः।
अग्निं पुरातनयित्त्वरचित्ता-
द्विरण्यरूपमवसे कृणुध्वम्॥

(सामवेद पू. १.७.७)

हे ऋत्विजों (उपासको) यज्ञ के स्वामी, होता रूद्ररूप, पार्थिव अन्नों के देने वाले, हिरण्यवर्ण अग्नि की हवि द्वारा उपासना मरने से पहले ही करो ।

इस मन्त्र में कहा गया है कि मनुष्य का हित इसी में है कि मृत्यु के पूर्व ही हवि द्वारा उनकी पूजा करता रहे अर्थात् उनके आदेशानुसार संसार की भलाई के कामों से सहयोग करता रहे । जो व्यक्ति दूसरों का अनहित करनेवाले पाप कर्मों से बच कर रहता है और अपनी शक्ति के अनुसार सब के साथ भलाई का व्यवहार करता है, वह भगवान् के दरबार में अवश्य सद्गति का अधिकारी माना जायेगा ।

द्वारा ओमप्रकाश केसरी
कुम्हार पाड़ा, रसिकपुर रोड
दुमका, झारखण्ड

v

हिन्दी काव्य जगत् में वीरगाथा-कालीन महाकवि चन्द्रवरदायी (१२वीं शती) ने अपने सुप्रसिद्ध काव्य 'पृथ्वीराजरासो' के ५८वें कनवज्ज (अध्याय) में वीरपुंगव राम-भक्त हनुमान् का ओजःपूर्ण वर्णन किया है। यह वर्णन महाराज पृथ्वीराज चौहान के युद्ध-प्रयाण के सन्दर्भ में किया गया है, इसके द्वारा कवि की हनुमान्-परक भक्ति का भी परिचय मिलता है।

**चलिय अब्ग चहुआन, एक जोजन ता अब्गिय ।
घटा रूप धन सञ्जि, निजरि ता ताहि न लब्गिय । ।
जीह बीज विकराल, धजा घन-वहुल-रंगिय । ।
हथ्य गदा सोभंत, भूत प्रेतह ता संगिय । ।
सामंत राज पिक्खिय सलख, हनुमान चंदह कहिय । ।
बाजंत नह विधि वि वसुह, वह सुबञ्जि त्रंबक दहिय । ।**

माँ सीता की शाश्वत यात्रा : सीतामढ़ी से सीतामढ़ी तक

डा. विनोद कुमार सिन्हा

पौराणिक कथाओं के अनुसार राजा निमि विदेह राज्य के संस्थापक थे। उनकी राजधानी जयन्त नामक स्थान पर थी। राजा निमि नाम को संक्षेप में राजा निमि की संज्ञा दी गई है।

एक बार राजा निमि ने एक हजार वर्षों तक चलने वाला एक यज्ञ प्रारम्भ किया। यज्ञ

की योजना के पूर्व यज्ञ के पुरोहित के लिए ऋषि वसिष्ठ को आमन्त्रित किया गया। उस समय ऋषि वसिष्ठ इन्द्र द्वारा पांच सौ वर्षों तक चलने वाला एक यज्ञ करा रहे थे। अतः उन्होंने उस यज्ञ की समाप्ति के बाद निमि के यज्ञ में पुरोहित बनने का वचन दिया। परन्तु राजा निमि ने विलम्ब

होने पर 'शुभ लग्न कहीं बीत न जाए' इस आशंका से ऋषि गौतम को पुरोहित बनाकर यज्ञ प्रारंभ कर दिया। ऋषि वसिष्ठ राजा इन्द्र के यज्ञ की समाप्ति के बाद जब राजा निमि के पास पहुँचे तब गौतम ऋषि को पुरोहित बनकर यज्ञ कराते हुए देखकर अत्यंत क्रोधित हुए और उन्होंने राजा निमि को शाप दे दिया कि तुम्हारा शरीर समाप्त हो जायेगा। राजा निमि को कोई पुत्र

नहीं था। अतः यज्ञ में उपस्थित ऋषियों ने राजा निमि के शरीर के अवशेषों को तेल एवं इत्र में मथकर उससे एक बालक को उत्पन्न कराया, जिसे मिथि कहा गया। उनका ही नाम जनक कहा जाने लगा, क्योंकि वे स्वयं उत्पन्न हुए थे। मिथि इसलिए कहा गया कि निमि राजा के

मृतक शरीर का मथकर

उनका जन्म हुआ था

। इस प्रकार मिथि

जनक राजवंश के प्रथम

राजा हुए। इन्होंने

अपनी राजधानी जयन्त

से हटाकर मिथिला

नामक नगर में बनाई

। मिथिला राजा मिथि

द्वारा बसाई नगरी है।

राजा मिथि के बाद

जनक, उदावसु,

नन्दिवर्धन, सुकेतु,

देवरात, बृहद्रथ, महावीर, सुधृति, धृष्टकेतु, हर्ष्यव,

मरु, प्रतीश्वक, कीर्तिरथ देवमीढ, विषुध, महीचक्र,

कीर्तिशत, महोरस्क, स्वर्णरोमन् आदि होते हुए

सीरध्वज तेईसवे जनक थे।

वाल्मीकि रामायण के अनुसार निमि की

छठी पीढ़ी में हुए जनक देवरात को देवताओं ने

एक धनुष दिया था। जिस धनुष का प्रयोग

भगवान शिव ने दक्ष प्रजापति के यज्ञ को ध्वंस

करने के लिए किया था उस धनुष को उन्होंने

मिथिला नगरी में भी माँ सीता की जन्मभूमि के निर्धारण में अनेक प्रकार की अवधारणाएँ एवं लोककथाएँ हैं। साथ ही जन्म के स्वरूप पर भी विभिन्न गाथाएँ हैं, जिनमें कुछ तो वाङ्मय में अपनी जगह बना चुकी हैं, कुछ आज भी लोककण्ठों में ही सीमित है। इतिहास के निर्धारण में हम लोक-कथाओं को सीधे नकार नहीं सकते; क्योंकि यह स्थानीय सूत्र से जुड़ी होती है। इनका विवेचन हमें तथ्य तक पहुँचने की दिशा देता है। माता सीता के जन्म प्रकरण से सम्बद्ध इन कथाओं पर प्रस्तुत है यह आलेख।

देवताओं को दे दिया था। वह अलौकिक धनुष लगभग चार पांच सौ वर्षों में अर्थात् जनक की छठी पीढ़ी से तेईसवीं पीढ़ी तक जनक परिवार में सुरक्षित रहा।

सीरध्वज जनक को भानुमत् नामक एक बालक था और उर्मिला नाम की एक कन्या थी ब्रह्मांड पुराण तथा वायुपुराण में सीरध्वज के पुत्र की चर्चा की गई है। परन्तु कहीं कहीं भानुमत् का दूसरा नाम मिथिलेश्वर बतलाया गया है।

मां सीता के जन्म से लेकर पृथ्वी में समाहित होने तक कई पौराणिक कथाओं तथा दन्तकथा में कभी एक दूसरे को समर्थन करती है तो कभी खण्डन करती हैं तो कभी अनबूझी पहेली बन जाती है।

सम्पूर्ण भारत के विद्वानों को एक स्थान पर बैठकर धर्मसभा आयोजित कर इस तरह की ऐतिहासिक विभिन्नताओं को दूरकर एक युक्तिसंगत इतिहास की रचना करनी चाहिए, जिससे अगली पीढ़ी के लिए एक मशाल ही नहीं एक मिसाल बन जाए और पाठक तार्किक उलझनों में उलझकर न रह जायें, बल्कि सतर्कता के निकट पहुँचकर ज्ञान लाभ करें। वेद, पुराण और उपनिषद् के महान् विद्वान् आचार्य डा. किशोर कुणाल ने भी 'धर्मायण' के माध्यम से एक बार यह आवश्यकता महसूस की थी कि विद्वानों को बैठकर सन्तों-महात्माओं आदि की जन्म तिथि, अवसान तिथि, जन्म स्थान आदि में एकरूपता तय करनी चाहिए।

जहाँ तक 'सीता' के जन्म का प्रसंग है- उसमें भी विभिन्नता है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार सीता राजा सीरध्वज जनक की पालिता पुत्री थीं, जो उन्हें हल चलाते समय पृथ्वी से प्राप्त हुई थी। हल के नुकीले भाग के चलने से जे रेखा बनती है, उसे सीता भी कहते हैं। अतः उनका नाम 'सीता' पड़ा था। कम्बोडिया की

पुस्तक 'रआमकेर' (रामकीर्त्ति) के अनुसार सीता जनक के हल चलाने से नहीं, बल्कि यमुना नदी के किनारे नाव चलाते समय राजा जनक ने एक बेड़े पर बहते हुए प्राप्त किया था। बालिका का रंग श्वेत था अतः उनका नाम 'श्वेता' पड़ा जो बाद में 'सीता' हो गया। फिर स्वयम्भूकृत 'पउमचरिउ' में सीता को राजा जनक की औरस पुत्री कहा गया है, परन्तु सभी जैन कवि इससे सहमत नहीं हैं।

तिब्बती रामायण तथा इन्डोनेशिया, मलाया आदि के ग्रन्थों के अनुसार सीता रावण की पुत्री थी और उसकी पटरानी से उत्पन्न हुई थी। रावण स्वयं विद्वान् थे। कई ज्योतिषियों से जब उस बालिका की जन्मकुण्डली बनवाई गयी, तो ज्ञात हुआ कि यह लड़की कुलनाशक होगी- अतः उसे फेकवा दिया गया। श्याम देश की रामकथा में सीता को विभीषण की पुत्री बताया गया है जो मृतवत् नदी में बहती हुई राजा जनक को मिली थी।

अब सीता के जन्म स्थान अर्थात् प्रकटस्थली में भी विवाद है। यह तो निर्विवाद सत्य है कि बिहार के सीतामढ़ी जिला में ही मां सीता प्रकट हुई थीं। कुछ विद्वानों का कहना है सीता की मही को ही सीतामढ़ी कहा जाने लगा। एक तर्क और है कि राजा जनक ने सीतामढ़ी में पड़ाव डाला था। एक मँड.ई बनी थी- उसी मँड.ई के कारण सीतामढ़ी नाम पड़ा।

इस सम्बन्ध में सीतायन सेवा समिति द्वारा प्रकाशित 'सीता उत्पत्ति' पुस्तक में लिखी बातें तर्क संगत लगती हैं तथा वाल्मीकि रामायण से मेल खाती हैं। पुनौर धाम जानकी स्थान के महंथ श्री कौशल किशोर दास जी ने भी इस पुस्तक की पुष्टि की है।

इस कथा के अनुसार एक बार त्रेता युग में लंकाधिपति रावण अपनी राक्षसीवृत्ति से अनुप्रेरित

होकर एक नियम बनाया कि लंकानगरी राज्य में जो भी ऋषि मुनि रहते हैं, सबको राज्यकर देना होगा। ऋषि मुनि तो आर्थिक सम्पन्न थे नहीं जो कर देते; अतः इन लोगों ने दुःखी होकर और क्रोधित होकर सामूहिक रूप में अपना अपना खून निकालकर एक घड़े में भरकर रावण के सैनिकों को दिया तथा यह श्राप भी दिया कि अपने राजा से कह देना कि यही खून उसके वंश के नाश का कारण बनेगा। अनुचरों से सारी बातें सुनने के बाद रावण ने आदेश दिया कि इसे हमारे राज्य की सीमा से बहुत दूर राजा जनक के देश मिथिला के अन्दर गाड़कर लौट आओ।

रावण एक बार भगवान् शिव की सभा में राजा जनक से शास्त्रार्थ करते हुए हार चुका था। उस हार से रावण तिलमिला उठा था और कोई युक्ति सोच रहा था कि राजा जनक के राज्य का कैसे नाश हो। इसी कारण से द्वेषयुक्त रावण इस शापयुक्त घड़े को राजा जनक के क्षेत्र में गड़वा दिया कि यह शापित घड़ा अवश्य कोई क्षति पहुँचाये। इस अनिष्ट से राजा जनक का नाश हो जायेगा।

उस शापित घड़ा के प्रभाव के कारण राजा जनक के राज्य का नाश तो नहीं हुआ परन्तु भीषण अकाल पड़ गया। बारह वर्षों की अनावृष्टि हो गयी। अन्नोत्पादन समाप्त हो गया। राज्य भण्डार में जो अन्न था, वह भी समाप्त हो गया। मिथिलावासी अन्न और जल के बिना मृत्यु के गाल में जाने लगे। सभी लोग व्याकुल हो गये। पेड़-पौधे सूख गये। धरती बंजड़ हो गयी। राजा जनक ने अपने राज्य के सभी विद्वानों, मनीषियों, ज्योतिषियों, महात्माओं आदि की एक सभा बुलायी और विचार-विमर्श किया। सभी लोग अपनी विद्वता से अकाल पर त्राण पाने हेतु राजा जनक को 'हलेष्टि यज्ञ' करने की सलाह दी, बृहद् विष्णुपुराण में उल्लेख है:-

**दुर्गात् पश्चिमतो भागे भोजनात् त्रितयात्परम्।
यज्ञास्थानं नरेन्द्रस्य यज्ञ लाङ्गल्य पद्धतो॥**

समुत्पन्ना महाभागो सीता राघव वल्लभा।

राजा जनक के किला के परिचमोत्तर भाग जलेश्वर स्थान से तीन भोजन अर्थात् बारह कोस की दूरी पर हलेश्वर स्थान में यज्ञ किया गया। यज्ञस्थल पर भगवान् शिव को प्रतिष्ठापित किया गया। यह यज्ञ वैशाख शुक्ल नवमी को किया गया। यज्ञोपरान्त स्वर्ण-निर्मित हल राजा जनक ने चलाया-

**स्वर्णलाङ्गल्यमादाय विचकर्ष महीतलम्-
विष्णुपुराण**

सीतामढी से तीन किलोमीटर की दूरी पर पुण्डरीक ऋषि का आश्रम था, जहाँ की भूमि एक बार राजा जनक से सूर्यग्रहण के समय पुण्डरीक ऋषि को दक्षिणा में दी थी। उस वन का नाम पुण्यारण्य पड़ा था जो कालान्तर में पुनौरा बन गया। उसी स्थान पर राजा जनक जब हल जोतते हुए पहुँचे, तो हल की सीराग्र (हल का अगला भाग-फाल) एक कलश से टकराया। कलश फूट गया और उससे एक सिंहासन पर अष्टसखियों के साथ, मस्तक पर रत्नजटित मुकुट, कुण्डल धारण किये हुये चार हाथों वाली (एक हाथ अभयप्रद, दूसरा वरप्रद, तीसरा और चौथा कमलप्रद) मां सीता प्रकट हुई। आकाश से सुमन की वर्षा होने लगी। राजा जनक भी उस अलौकिक छवि को देखकर सुध खो बैठे। सम्पूर्ण मिथिला में प्रसन्नता की लहर दौड़ पड़ी-

धरनि धाम मह मयेउ अनन्दा,

जीव जन्तु के मेटेहिं फंदा ॥

तुमुल नाद गूजहिं चहुं ओरा,

शंखनाद बाजहिं घन घोरा॥

राजा जनक जी की विह्वलता को देखकर ब्रह्माजी ने सीता से प्रार्थना की -आप बाल लीला कर लौकिक बन जायें। तदुपरान्त सिंहासन तथा

अष्टसखियाँ लुप्त हो गईं और माँ सीता बाल रूप में खेलने लगीं।

राजा जनक ने प्रस्ताव दिया कि यह भूमि पुण्डरीक ऋषि की है अतः इस बालिका पर उन्हीं का अधिकार बनता है। परन्तु पुण्डरीक ऋषि ने कहा कि मैं तो ऋषि हूँ, इसका लालन पालन कैसे कर सकूँगा। ऋषि ने राजा जनक को ही बालिका सौंप दी।

पं. राम स्वार्थ शरण पूनमजी की पुस्तक के अनुसार राजा जनक बालिका को गोद में लेकर अपनी मड़ई रूपी शिविर में लाए। उसी मड़ई को मढ़ी और उस स्थान को सीतामढ़ी कहा गया। बाद में राजा जनक उस बालिका को अपनी राजधानी जनकपुर ले गये, जहाँ उनका उचित लालन पालन हुआ।

जब माँ सीता के विवाह का समय आया तो राजा जनक ने एक स्वयंवर का आयोजन किया। जनक दुर्ग के सामने मण्डप में शिव भगवान का पुराना धनुष रखा गया और कहा गया कि जो कोई इस धनुष को तोड़ेगा; विदेह नन्दिनी सीता का उसी से विवाह होगा।

चारों तरफ से राजा-महाराजा, ज्ञानी, वीर आए। लंकापति रावण भी आए। रावण जैसे ही धनुष तोड़ने को प्रस्तुत हुए; उसी समय आकाशवाणी हुई कि ऐ रावण! तुम्हारी बहन को दानव हरण कर लिये जा रहा है। यह सुनते ही रावण वहाँ से चला गया। परन्तु मण्डप में लावण्यमयी सीता के रूप-सौंदर्य को देखकर उसने घोषणा की-‘सुन्दरी सीता! मैं तुम्हें एक बार लंका अवश्य ले जाऊँगा।’

गुरु विश्वामित्र के आदेश से दशरथपुत्र राम ने धनुष को तिनके के समान उठाकर टुकड़े-टुकड़े कर दिया। राजा जनक ने सीता को राम के गले में माला डालने की आज्ञा दी। बाद में राजा दशरथ बारात लेकर आये ओर अग्रहण

शुक्ल पंचमी के दिन बड़ी धूमधाम से सीताजी का विवाह राम के साथ सम्पन्न हुआ। सीता के साथ राजा जनक की पुत्री उर्मिला का विवाह लक्ष्मण से तथा राजा जनक के भाई कुशध्वज की दोनों पुत्रियाँ माण्डवी तथा श्रुतिकीर्ति का विवाह भी क्रमशः भरत और शत्रुघ्न से सम्पन्न हुआ। माँ सीता के भाग्य में सुख बहुत कम लिखा था। कुछ ही दिन बाद मन्थरा की कुटिल बुद्धि से प्रेरित होकर कैकेयी ने महाराज दशरथ से दो वरदान मांगा; राम को चौदह वर्ष का वनवास और भरत को राजगद्दी।

राम के साथ सीता भी वन जाने को तैयार हुई। भ्राता लक्ष्मण भी वन गये। वन में ही एक दिन रावण ने सीता का हरण कर लिया। सीताहरण के सम्बन्ध में तरह तरह कथायें कही गयी हैं। ऐसा कहा जाता है कि रावण ने वास्तविक सीता का स्पर्श भी नहीं किया। वरन् उसने माया रूपी सीता का अपहरण किया। कम्बन लिखित तमिल रामायण, अध्यात्म रामायण और तिब्बती रामायण में माया रूपी सीता के अपहरण की बात कही गई है। वाल्मीकि रामायण में माया रूपी सीता का उल्लेख तो नहीं है परन्तु माया की तरफ संकेत अवश्य है।

आन्ध्रप्रदेश के तिरुपति के समीप तिरुमला एक स्थान है, जहाँ श्री वेंकटेश्वर भगवान् की मूर्ति स्थापित है। बीच में वेंकटेश्वर भगवान् का विष्णु रूप है, जिनके वाम वक्ष पर लक्ष्मीजी और दक्षिण वक्ष पर पद्मावती हैं। वेल्डन प्रेस, मद्रास से ‘श्री वेंकटेश्वर माहात्म्य’ नामक पुस्तक छपी है, जिसके लेखक श्री वि. वि. एस. शास्त्री हैं। उन्होंने लिखा है कि जब वेंकटेश्वर भगवान् की दोनों पत्नियाँ लक्ष्मी और पद्मावती में झगड़ा हुआ तो श्रीनिवास (वेंकटेश्वर भगवान् का पूर्व रूप) का शिला विग्रह हो गया और शिलामूर्ति से एक आवाज सुनाई दी:- “रामावतार में मैं मारीच

का पीछा करता हुआ चला गया । तुम मेरे लिए लक्ष्मण को भेजकर पर्णशाला में अकेली थी । उस समय लंकेश्वर आया । तुमने भयाक्रान्त होकर पर्णशाला के अग्निगृह में जाकर अग्नि की प्रार्थना की । प्रसन्न होकर तुम्हें अपने पास छिपा लिये और अपने पास रहने वाली वेदवती को तुम्हारे स्थान पर खड़ा कर दिये । रावण उसे ही सीता समझकर लंका ले गया । विभीषण ने वेदवती को सीता समझकर मुझे सौंप दिया । उस युगधर्म के अनुसार लोकापवाद से हटकर मैंने उसकी अग्निपरीक्षा रखी तो अग्निभट्टारक ने तुम्हें लाकर मुझे सौंप दिया । तब वेदवती ने भी अपने को स्वीकार करने हेतु मेरी प्रार्थना की । परन्तु एक पत्नीव्रत धर्म के कारण मैंने तिरस्कार किया । फिर भी अनुनय विनय करने पर मैंने वादा किया कि कलियुग में श्रीनिवास के रूप में आउँगा तब तुम आकाश राजा की पुत्री पद्मावती के रूप में आओगी । तब मैं तुमसे विवाह करूँगा । वही वेदवती आज पद्मावती के रूप में आई और असली सीता तुम हो।”

उसके बाद लक्ष्मी और पद्मावती भी शिलामूर्ति बन गई और लक्ष्मी, पद्मावती सहित वेंकटेश्वर की मूर्ति तिरुपति बालाजी मंदिर में स्थापित है। इस प्रकार असली माँ सीता अग्नि प्रवेश के समय भगवान राम के निकट आ गयीं । भगवान् राम को राजगद्दी मिली । सीता राजरानी बनीं ।

इसके बाद की कथा विभिन्न रामायणों में विभिन्न रूपों में उपलब्ध हैं । एक कथा के अनुसार सीता के भाग्य में सुख कहाँ? राम ने पतिधर्म से अधिक महत्त्व राजधर्म को दिया जिसके फलस्वरूप एक धोबी के अनर्गल प्रलाप की बात सुनकर गर्भवती सीता को राजमहल से निष्कासित कर दिया गया।

भगवान राम ने लक्ष्मण को आदेश दिया

कि सीता को वन ले जाकर छोड़ दो । लक्ष्मण ने पिता के समान राम की आज्ञा सिर पर चढ़ा ली। परन्तु सीता के समक्ष सत बोलने की हिम्मत नहीं हुई तो उन्होंने कहा कि माता मैं आपको तपोवन दिखाने ले जा रहा हूँ। सीता बहुत प्रसन्न हुई। लक्ष्मण ने सीता जी से मार्ग में कुछ भी नहीं बताया कि तुम पर क्या विपत्ति आने वाली है। गंगा नदी के उस पार जाकर लक्ष्मण ने आँसू रोककर रूंधे हुए गले से सीताजी को राजा राम का आज्ञा इस प्रकार सुनाई जैसे कोई भयंकर बादल ओले बरसा रहा हो। इसका मार्मिक वर्णन कालिदास ने अपनी पुस्तक 'रघुवंश' में किया है:-

अथ व्यवस्थापित वाक्कथंचित्

सौमित्रिरन्तर्गतवाष्पकण्ठः।

औत्पातिकं मेघ इवाश्मवर्ष

महीपतेः शासनमुज्जगार ॥५३॥

भाग्य की कैसी विडम्बना है। दुख छाया की भाँति माँ सीता के साथ चलता रहा । सीता के जीवन में करुणा विलख-विलख कर रोती रही। सीता इतनी साध्वी थीं कि निरपराध पत्नी को निकलने वाले अपने पति को उन्होंने कुछ भी भला बुरा नहीं कहा, वरन् बार-बार वे अपने भाग्य को कोसने लगीं।

न चावद्द भर्तुरवर्णमाया

निराकरिषणोवंजिना दृतेऽपि।

आत्मानमेव स्थिरदुःखभाजं

पुनः पुनर्दुष्कृतिनं निनिन्द ॥५७॥

फिर भी सीता के मुख से करुणा फूट ही गई और उन्होंने लक्ष्मण से जाते समय कहा कि राजा से जाकर तुम मेरी ओर कहना कि आपने अपने सामने ही मुझे अग्नि में शुद्ध पाया है या। इस समय अपचरा के डर से आपने मुझे छोड़ दिया है। यह क्या उस प्रसिद्ध कुल को शोभा

देता है जिसमें आपने जन्म लिया है:-

वाच्यस्त्वया मद्बचनात्स राजा
वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासौ
श्रुतस्य किन्तत्सदृशं कुलस्य॥६१॥

(रघुवंशम् : सर्ग १४)

लक्ष्मण आँखों से ओझल हो गये और सीता दहाड़ मारकर रोने लगी। उनका रोना सुनकर वाल्मीकि ऋषि आ गये। उन्होंने कहा:-

बेटी! मैंने योगवल् से जान लिया है कि तुम्हारे पति ने झूठे अपयश से डरकर तुम्हें घर से निकाल दिया है। बेटी! यहाँ भी तुम अपने पिता का घर ही समझो। तुम्हारे यशस्वी श्वसुर जी मेरे मित्र हैं और तुम्हारे पिता जनक जी ने भी ज्ञानोपदेश देकर बहुत से संसार के बन्धन से मुक्त किया है।

लक्ष्मण जी ने माँ सीता को जिस वाल्मीकि आश्रम में छोड़ा था वह स्थान भी सीतामढ़ी ही कहा जाता है। यह सीतामढ़ी वाराणसी इलाहाबाद मार्ग पर इलाहाबाद से ५७ कि.मी. और वाराणसी से ६३ कि.मी. दूर पर स्थित है। गोपीगंज रेलमार्ग से भी यह स्थान जुड़ा है। इलाहाबाद वाराणसी के बीच में एक स्थान जंगीगंज है। यहाँ से धन तुलसी मोड़ पर १३ किलोमीटर रास्त तय करने के बाद सीतामढ़ी पहुँचा जा सकता है। सीतामढ़ी के प्रवेश द्वार पर एक रथकी प्रतिमा बनी है जिसपर लक्ष्मण जी माँ सीता को पहुँचाने जा रहे थे।

कवितावली के उत्तरकाण्ड के ३ कवित्त में उक्त सीतामढ़ी स्थान का भौगोलिक वर्णन इस प्रकार आया है-

जहाँ वाल्मीकि भए व्याध तें मुनिन्द्र साधु
'मरा-मरा' जपे सुनि सिख ऋषि सात की।
सीय को निवास, लव-कुश को जनम थल,
'तुलसी' ध्रुवत छांह ताप गरै गात की॥
विटप महीप सुरसरित समीप सोहे,

सीतावर पेखत विलसति भूमि

अंकित जो जानकी चरन जलजात की॥३८॥

जहाँ सप्तऋषियों का उपदेश सुनकर 'मरा-मरा' जपते हुए वाल्मीकि जी व्याध से महामुनि बन गये जो सीता का निवास स्थान और कुश तथा लव का जन्म स्थान था। तुलसीदास कहते हैं- जहाँ छाया का स्पर्श होता ही शरीर का सारा ताप शान्त हो जाता है वह वृक्षराज सीतावट श्री गंगाजी के तट पर शोभायमान है। उसके दर्शन मात्र से पापी पुरुष भी पवित्र हो जाते हैं। यह स्थान वादिपुर और दिगपुर इन दो गाँवों के बीच में है और श्री जानकी जी के चरण कमलों से अंकित है। उक्त सीतामढ़ी गंगा के तट पर वाटिपुर और दिगपुर गाँव के बीच भदोही (उ. प्र.) जिला के अन्तर्गत आता है।

वाल्मीकि आश्रम में ही माँ सीता ने लव और कुश का जन्म दिया। राम ने अश्वमेध यज्ञ किया। परन्तु उसने यज्ञ में सोने की सीता बनाकर अपनी पत्नी के स्थान पर बैठा दिया। अश्व वाल्मीकि आश्रम में पहुँचा। सीता के पुत्र लव और कुश महर्षि वाल्मीकि की आज्ञा से उनकी बनाई रामायण गाते हुए इधर उधर घूम रहे थे। यह बात राम के कानों तक पहुँची। उन्होंने बालकों को बुला भेजा। दोनों भाई आये उनका परिचय पूछा गया। सारी सभा गूंगी बनकर उनके गीत सनती रही और सभी श्रोताओं की आँखों से आँसू बहने लगे। तब बालकों से प्रभावित होकर भगवान राम वाल्मीकि आश्रम पहुँचे। वाल्मीकि ऋषि ने राम से कहा कि सीता निर्दोष है उसे आप अपने यहाँ सम्मानपूर्वक ले जायें। राम ने कहा कि सीता अपनी शुद्धता का प्रमाण देकर प्रजा को विश्वास दिलाने तब मैं पुत्रों सहित इन्हें ग्रहण कर लूँगा।

सीता ने वाल्मीकि के पुत्रों द्वारा जल मँगाया। जल से आचमन करने के बाद माँ सीता

ने कहा कि मैंने मन, वचन और कर्म किसी प्रकार से भी अपना पतिव्रत भंग न किया होता तो हे धरती माता! तुम मुझे अपनी गोद में ले लो:-

वाङ्मनः कर्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे।

तथा विश्वम्भरे देवि! मामन्तर्धातुमर्हसि॥८॥

रघुवंशम्

पतिव्रता सीता के ऐसा कहते ही पृथ्वी फटी और उसमें से बिजली के समान चमकीला एक तेजोमण्डल निकला। उसमें से नाग के फण पर रखे हुए सिंहासन पर बैठी हुई समुद्र की तड़ी पहले साक्षात् धरती माता प्रकट हुई।

धरती माता ने सीता को अपनी गोद में ले लिया जो राम की ओर टकटकी बाँधे थी। राम कहते ही रह गये- यह क्या करती हो? यह क्या करती हो? परन्तु सीता सबको देखते देखते पाताल में प्रवेश कर गई:-

सा सीतामंकमारोप्य भर्तृप्रणिहितेक्षणाम्

मा मेति व्याहरत्येव तस्मिन्यातालमभ्यगात् ॥८॥

रघुवंशम्

सीता समाहित स्थल सीतामढ़ी में स्व. पं. कन्हैयालाल पुंज ने मां सीता का भव्य मंदिर प्रथम तल में तथा सीता के भू-प्रवेश करते समय की मुद्रा में मूर्ति से शोभित भव्य भू-तल मंदिर

का निर्माण किया है। प्रथम तल में स्थापित मूर्ति लावण्यमयी है और भू-तल में स्थापित शोक सन्तप्त माँ सीता की मूर्ति है। पहले वहाँ एक छोटा सा मन्दिर था। अब एक दिव्य तीर्थधाम बन गया है। मन्दिर के दो दिशा में तालाब है- बगल में ही ११६ फीट ऊँची हनुमानजी की प्रतिमा है। बड़ा ही मनोहर दृश्य है।

अत्यन्त प्रसन्नता और सन्तोष की बात है कि मां सीता की प्रकट स्थली सीतामढ़ी (बिहार) के पुनौरा धाम में भी आध्यात्मिक अभिरूचि के धनी सीतामढ़ी जिला के समाहर्ता श्री अरूण भूषण प्रसाद के सौजन्य एवं अकथनीय परिश्रम से एक भव्य मन्दिर बन रहा है, जिसमें सरकार एवं जन समुदाय के सहयोग से लगभग एक करोड़ रुपया व्यय की योजना है।

यही है माँ सीता की प्रकट स्थली सीतामढ़ी (बिहार) से समाहित स्थली सीतामढ़ी (उ. प्र.) तक की शाश्वत यात्रा का ऐतिहासिक एवं भौगोलिक प्रसंग।

ग्राम+पो. बेलाही, वाया-अथरी

जिला सीतामढ़ी बिहार

v

लेखकों से निवेदन

धर्मयण में प्रकाशन के लिए अध्यात्म, दर्शन, संस्कृति एवं साहित्य के क्षेत्र में शोधपूर्ण आलेख सादर आमन्त्रित हैं। रचना में विद्वान् लेखकों से मूल उद्धरणों की अपेक्षा हम रखते हैं। रचना भेजने के लिए कोई शर्त नहीं है। रचना स्पष्ट अक्षरों में हस्तलिखित अथवा टंकित होनी चाहिए। प्रकाशित रचना पर सम्मानकी के रूप में 'पत्र-पुष्प' की राशि की भी व्यवस्था है।

सम्पादक

हिन्दू जीवन-शैली की वर्णमाला

डा० रामजी सिंह

१८६३ ई० में जब शिकागो में आयोजित विश्व धर्म-संसद् में हिन्दू धर्म के एक अनामन्त्रित प्रतिनिधि के रूप में स्वामी विवेकानन्द ने व्याख्यान दिया तो उसमें भाव की ओजस्विता भले ही थी, लेकिन वाणी की विनम्रता थी। उन्होंने कभी अपने धर्म को 'सर्वश्रेष्ठ' नहीं कहा, बल्कि ऐसा कहने में उन्होंने अहंकार एवं अस्वस्थ धार्मिक प्रतिद्वन्द्विता को कारण बताया। यह दुर्भाग्य है कि हमें धर्म 'धृति, क्षमा, दम, इन्द्रियनिग्रह', 'बिस्मिल्लाहे रहिमने रहीम' या "गरीब धन्य हैं, भगवान् उन्हीं को भारेंगे" आदि सिखाता हो, उस धर्म के नाम पर विश्व-इतिहास के लगभग ६६ प्रतिशत युद्ध हुए हैं और आज भी

मध्य-पूर्व, रूस, भारत-पाक आदि देश उसके शिकार हैं। लगता है, सर मुहम्मद इकबाल की भावना केवल भावना ही थी— "मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना।"

समकालीन दार्शनिक डा० राधाकृष्णन ने भी "हिन्दू जीवन दृष्टि" पर अपने व्याख्यानों को पुस्तक का रूप दिया, वहाँ भी गर्वोन्नत वाणी का स्पर्श नहीं, यद्यपि हिन्दू जीवन-दर्शन के लिए सशक्त प्रतिरक्षात्मक तर्क हैं। महात्मा गाँधी जी ने सनातन हिन्दू धर्म के प्रति अपनी आसक्ति प्रदर्शन करने में पराकाष्ठा

दिखा दी जब उन्होंने सनातन धर्म से अपना वही सम्बन्ध बताया जैसा एक शिशु अपनी माता के वक्षःस्थल से अमृतोपम दुग्ध का पान करके पाता है। लेकिन उनकी वाणी में कभी अहंकार नहीं आया। लगता है, निष्ठा की अभिव्यक्ति और विनम्रता में कोई स्वतःविरोध नहीं है। अपने पन्थ, धर्म या विचार को श्रेष्ठ कहने में अभिमान की अभिव्यंजना तो है ही, मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार उससे हीनता की ग्रन्थि भी स्पष्ट हो जाती है। हाँ, इसमें सत्यांश है कि

हिन्दू अपने को हिन्दू कहने में चूँकि संकोच का अनुभव करते थे, उसके प्रतिकारस्वरूप "गर्व से कहो हम हिन्दू है" का नारा प्रचलित

[विशुद्ध भौगोलिक अभिधेयार्थ-परक 'हिन्दू' शब्द अपने साथ-साथ एक ऐसी जीवन-शैली को प्रकट करता है, जो एकता, समन्वय और समरसता से गतिशील है। विविधताओं के बावजूद एकता का अन्वेषण और उसकी प्राप्ति को 'ब्रह्मानन्द' माननेवाली इस जीवन-शैली की वर्णमाला का विवेचन डा० रामजी सिंह की लेखनी से प्रस्तुत है—

—सं०]

किया गया। वैचारिक रूप से देखें तो यदि हम अपने धर्म को सर्वश्रेष्ठ मान लें तो इसका अभिधार्थ यही हुआ कि शेष धर्महीन हैं। अब यह विचार सर्व-धर्म-समभाव या "सभी धर्मों की बुनियादी एकता" के सिद्धान्त का खण्डन तो है ही, व्यावहारिक रूप से ऊँच-नीच के भेद-भाव की जननी है। फिर सत्य के भी अनेक रूप होते हैं। उसके अनन्त आयाम होते हैं— "अनन्तधर्मात्मकं वस्तु।" फिर हम यह मानें कि सत्य को जानने का एकाधिकार हमें ही है तो यह भी मिथ्या अहंकार है। अतः ज्ञानदृष्टि से भी हम अपने

को सर्वश्रेष्ठ न कहें, तो विनम्रता के साथ सत्य की भी मर्यादा रहती है।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न 'हिन्दू' शब्द की व्युत्पत्ति से है, जिसपर ऐतिहासिक रूप से ध्यान तो देना चाहिए लेकिन उसके खींचतान की आवश्यकता नहीं। 'हिन्दू' शब्द आधुनिक समय में इतना प्रचलित हो गया है कि इसके प्रयोग के प्रति कोई दुराग्रह नहीं होना चाहिए, हाँ इसके प्राचीन आधिकारिक गम्भीर पर्यायवाची शब्द जैसे 'वैदिक', 'सनातन-धर्म' तथा 'आर्य-धर्म' आदि के भावार्थ और शब्दार्थ समझना चाहिए।

यह तो स्पष्ट है कि 'हिन्दू' शब्द संस्कृत के 'सिन्धु' से अवेस्ता (फारसी का मूल) में 'हिन्दु' बनता हुआ हिन्दी में आया है क्योंकि अवेस्ता में संस्कृत 'स' का उच्चारण 'ह' से होता है। जैसे— सप्ताह=हप्ता, सोम=हओम आदि। लेकिन फारसी में 'हिन्दू' का शब्दार्थ 'चोर, बदमाश है', यह धारणा गलत है। फारसी और अरबी भाषा में हिन्दू शब्द के भौगोलिक अर्थ हैं। संस्कृत में सन्त विनोबा ने 'हिन्दू' शब्द की एक मनोरम व्याख्या कर दी— 'हिं' = हिंसा, 'दू' = दूर, यानी जो हिंसा से दूर रहता हो, वह हिन्दू है। सच तो यह है कि चारों वेदों एवं लगभग सभी प्रमुख उपनिषदों, गीता और महाभारत यहाँ तक कि मनुस्मृति में 'हिन्दू' शब्द का उल्लेख नहीं है। फिर भी, चूंकि यह प्रचलित हो गया है और इसके पीछे गौरवमय इतिहास भी है, अतः इसे विवाद का विषय बनाना बेकार है। भाषा और संस्कृति विध्यांचल की तरह जड़ नहीं; बल्कि गंगा की तरह गतिशील एवं प्रवहमान है। आज अंगरेजी भाषा, अंगरेजी वेशभूषा, अंगरेजी खेल-क्रिकेट आदि को हम अपनाते जा रहे हैं, आदि, आदि। इस सन्दर्भ में एक और पादटिप्पण है कि 'हिन्दू है कौन? क्या इसकी भौगोलिक या ऐतिहासिक परिभाषा दी जाय या धार्मिक या सांस्कृतिक?' यह सचमुच एक कठिन कार्य है। जो आस्तिक, यानी

ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखता है, वह भी हिन्दू, जो नास्तिक है वह भी हिन्दू। इस प्रकार चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य, मीमांसा तो जगत् के कर्ता ईश्वर को नहीं मानते। साथ-साथ अद्वैत वेदांत के अनुसार 'ईश्वर' भी माया है। यानी जगत्कर्ता ईश्वर को भी वे सत्य नहीं मानते— "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।" इसी प्रकार, भले ही मनुस्मृति के अनुसार "नास्तिको वेदनिन्दकः" कहा गया हो, लेकिन लोकायत-चार्वाक तो "त्रयो वेदस्य कर्तारः भण्डधूर्तनिशाचराः" तथा वेदों को "धूर्त्प्रलापस्त्रयी" कहते हैं। जैनों के आगम वेदों से सर्वथा स्वतन्त्र तथा बौद्धों के त्रिपिटक भी अलग हैं। इसी प्रकार मोक्ष की कल्पना एवं धारणा में भी भिन्नता है तथा मोक्ष मार्ग तो अलग-अलग हैं ही। जो ज्ञान मार्ग मानते हैं, वे भी हिन्दू, जो उसका विरोध करते हैं, वे भी हिन्दू। जो ज्ञान, भक्ति, कर्म किसी को या सबों को औपनिषदिक जीवनादर्श या जीवन-मूल्य मानते हैं वे भी हिन्दू कहलाते हैं। इतनी स्वतन्त्रता अथवा भिन्नता तो कहीं दीखती नहीं। संक्षेप में, न कोई एक केन्द्रित ग्रन्थ है, न एक खास स्वरूप ईश्वर, न एक मोक्ष मार्ग, फिर भी हिन्दू एक हैं। इन भिन्नताओं में अभिन्नता ही हिन्दू धर्म का सौन्दर्य है। इन विभिन्नताओं को एकत्व प्रदान करने वाला तत्त्व है इसकी व्यापकता या सर्व-समावेशकता।

ऋग्वेद के 'नासदीय-सूक्त' में चरम तत्त्व को जिस प्रकार सत्, असत्, सत्-असत् एवं 'न सत् — न असत्' से भी भिन्न कहा गया या फिर यजुर्वेद के पुरुष-सूक्त में सहर्षशीर्ष, सहस्त्रमुख, सहस्त्रनेत्र आदि की कल्पना है या फिर त्रिमूर्ति, विश्वेदेवा, आदि की अवधारणा है, उससे तो केवल 'एकत्व' का दर्शन होता है— "एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति। एको देवो बहुधा कल्पयन्ति।" असल में हमारे ऋषियों की मनीषा में कोई संकीर्णता या तुच्छता थी ही नहीं। इसलिए तो हमारा वैदिक औपनिषदिक जीवनादर्श

या जीवन मूल्य था 'भूमा'। "यो वै भूमा न अल्पसुखम्।" भूमा में सुख है, अल्प में नहीं। इसीलिए संकीर्णताओं का परित्याग करना हमारा पाठ रहा है—

त्यजदेकं कुलस्यार्थं ग्रामस्यार्थं कुलं त्यजेत्।

कुलं जनपदस्यार्थं, आत्मार्थं पृथिवीं त्यजेत्।।

यानी चाहे हमारा धर्म हो या हमारी राष्ट्रीयता, हमारी दृष्टि एवं निष्ठा सदा-सर्वदा वैश्विक रही है। 'अयं निजः' तो हमारी वर्णमाला में ही नहीं है। हमारा मन्त्र "वसुधैव कुटुम्बकम्" या 'जय जगत्' है। अथर्ववेद में पृथ्वी-सूक्त का मन्त्र ही है— "माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।" ध्वजारोहण के समय भी हम गाते रहे—

देश विजय की नहीं कामना आत्मविजय है इष्ट।।

इससे ही उसके चरणों में नत होता संसार।।

हर देश का अपना मिशन होता है। प्राचीन रोम का मिशन साम्राज्य-विस्तार था, यूनान का मिशन ज्ञान प्राप्ति एवं मिश्र तो पिरामिड बनाकर मृत व्यक्ति को भी अमर बनाना चाहता था। लेकिन भारत का मिशन धर्म का विस्तार था— "धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।" धर्म का मतलब मानव-धर्म है, धर्म का अर्थ नीति-धर्म है, मनु का 'धर्मदशी' है।

संक्षेप में वैश्विक धर्म, वैश्विक राष्ट्रीयता, वैश्विक संस्कृति, यही हमारी पहचान थी। आज जब हम मंगल और चन्द्रमा पर बसने की बातें कर रहे हैं तो संकीर्ण पन्थ या संकीर्ण राष्ट्रीयता की बात सोचना अपने ही आदर्शों का परित्याग करना है। आज तो एक विश्व सरकार एक 'सार्वभौम धर्म' (विवेकानन्द) एवं विश्व अर्थव्यवस्था से कम की बात सोचना ही प्रतिगामी चिन्तन का प्रमाण है। इसका अर्थ नहीं कि हम अपना अस्तित्व या अपनी अस्मिता को भूल जायें लेकिन आक्रामक धर्मदृष्टि एवं आक्रामक राष्ट्रीयता

कभी हिन्दू दृष्टि नहीं हो सकती। ऋग्वेद में वर्णित 'एकं सत्' को विविधाओं के बीच एकता को ही प्रकारान्तर से जैनों ने 'अनेकांतवाद' के द्वारा एवं बौद्धों ने 'मध्यम प्रतिपदा' के रूप में बताया है। मध्य मार्ग अतिरंजित या एकांगी नहीं होता इसीलिए 'मध्यमम् अभयम्' माना गया है। 'एकता' यदि भारतीय दृष्टि की वर्णमाला का ह्रस्व है तो 'विविधता' इसका दीर्घ है। विविधताएँ ही भारतीय जीवन की मांसल काया है। इसे चाहें दर्शन में देखें या धर्म या पन्थ में। रूप-रंग में देखें या कला या संस्कृति में। अतः विविधताओं की कीमत पर एकता की बातें अयथार्थ हैं। अतः सच्चे हिन्दू जीवन शैली समग्रता की भारतीय जीवन शैली है। चाहे काव्य को देखें या कला को, स्थापत्य को या दर्शन को, यहाँ के जीवन में अद्भुत समन्वय है। ईश्वर तत्त्व को ही लें— उपनिषद् में "ईशावास्यामिदं सर्वम्" या "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" या "सियाराममय सब जग जानी" की हिन्दू भावना से कुरानशरीफ के लाइल्लाहिअललिल्लाह" या मंसूर के 'अनहलक' या बाइबिल के प्रथम उपदेश कि 'एक ही ईश्वर है', में बुनियादी एकता है। बल्कि हिन्दू दर्शन में तो अनेकानेक विभेद हैं। यहां सांख्य का द्वैत, वैशेषिक का बहुत्ववाद और शंकर का अद्वैत हैं; यदि चार्वाक का भौतिकवाद है तो वेदान्त का प्रत्ययवाद, न्याय-वैशेषिक का परमाणुवाद एवं सांख्य का विकासवाद। एक वेदान्त के अन्तर्गत यदि शंकर का अद्वैत है तो रामानुज का विशिष्टाद्वैत, मध्व का द्वैतवाद, निम्बाकं का द्वैताद्वैत, वल्लभ का शुद्धाद्वैत, श्रीकण्ठ का अचिन्त्याद्वैत आदि अनेक हैं। असल में विचारों की स्वतन्त्रता और आचरण का संयम हमारा चरित्र रहा है। काव्य की साधना में सैकड़ों मुस्लिम कवि हुए हैं, जिन्होंने हिन्दू देवों— राम, कृष्ण एवं शिव पर भावपूर्ण रचनाएँ लिखी हैं। स्वयं हिन्दी भाषा के आदि संस्थापक प्रणेताओं में अमीर खुसरो का नाम हिन्दी साहित्य में आदर से लिया जाता है। रहीम की रामायण-

भक्ति, रसखान की कृष्ण-भक्ति की तुलना में तुलसी एवं सूर के सिवा बैठने की कौन हिम्मत कर सकेंगे? संगीत में हिन्दू-मुसलिम का ताना-बाना ऐसा बुना हुआ है कि दोनों को अलग किया ही नहीं जा सकता। खेल हो या हुनर, दोनों में हिन्दू-मुसलमान को, भारत और पाकिस्तान के बीच विभाजन रेखा खींचना दुस्तर है। इसलिए जब हिन्दू-दृष्टि या हिन्दू जीवनशैली की बात हो, तो उसे अपने प्रांगण में अपने बीच आध्यात्मिक और नैतिक हिन्दुत्व को सशक्त करने तथा अपने बीच के अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता आदि पर प्रहार करने के लिए उद्धृत करना करना अधिक उपयोगी होगा और मुसलिम, ईसाई, सिक्ख, जैन एवं बौद्ध के बीच भ्रान्त पृथक्तावाद को बढ़ावा देने का अवसर नहीं मिलेगा।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि हिन्दू जीवन शैली का प्राण समन्वय और सामासिकता है। इसके बिना हिन्दू जीवन शैली की कल्पना हो ही नहीं सकती; क्योंकि चाहे धर्म-दर्शन हो या साहित्य-

संगीत, हम किसी एक वृत्त के अन्दर हिन्दू या हिन्दुत्व को रख नहीं सकते। इतिहास साक्षी है कि प्रारम्भ में निषाद, किरात, द्रविड़, अनार्य, शक, शीथियन, गुर्जर, प्रतिहार, पठान, मुगल, ईसाई, पारसी आदि न जाने कितने इस महासागर के तीर आये और सब मिलकर एक हो गये। स्वामी विवेकानन्द ने तो इसीलिए 'इस्लामी काया और वेदान्ती मस्तिष्क' की एकता में ही भारत का भविष्य माना था। हिन्दू जीवन शैली का अर्थ है— आध्यात्मिकता की गहराई, सात्विकता का आवेष्टन, त्याग का आचरण, सेवा का आदर्श, वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना और नैतिकता की जीवन शैली। अध्यात्म हिन्दू जीवन शैली का 'अर्थ' और 'ॐ' है, तो निष्काम कर्मयोग इसका वैभव। भक्ति इसका अमृत-रसायन है, तो योग-साधना इसका अक्षय कवच। सत्ता और सम्पत्ति इसका वैभव नहीं, आत्मशुद्धि एवं समाज-सेवा इसका जीवन है— "आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च।"

भीखनपुर, भागलपुर-८१२००१

V

हिन्दी वाङ्मय में रामकथा की परम्परा में गोस्वामी तुलसीदास का रामचरितमानस मील के पत्थर की भाँति है, किन्तु इससे पूर्व भी रामकाव्यों की परम्परा रही है। गोस्वामीजी के काल से लगभग सौ वर्ष पूर्व सन्त सूरजदास ने 'रामजन्म' नामक एक काव्य का प्रणयन किया था। इसमें उन्होंने श्रवणकुमार के आख्यान से प्रारम्भ किया है। इस काव्य का राम-जन्म-प्रसंग प्रस्तुत है—

सभे मनोहर पूजा, सुफल भए सभ काम।
कोसीला के प्रथमहीं, जनम लीन्ह श्रीराम।।२३।।
चैत मास नौमी गुरुवारा। तहि दिन राम लीन्ह अवतारा।।१७१।।
जब जनमे संसार के तारा।केकी के जनमे भरथ कुमारा।।१७२।।
सुमित्रहिं जनमे दुइ बलबीरा।लखन सतुरुगुन रन के धीरा।।१७३।।
सुर नर मुनि सभ नाचन लागे।तीनि भुवन के दलिदर भागे।।१७४।।
राम के जनम सुने मन लाई । सो नर सदा वैकुण्ठहिं जाई।।१७५।।
जनम सरुप कौसिला देखा । हरख आनन्द सिर ऊपर लेखा।।१७६।।

नारायण कवच

अनुवाद : अरविन्द मानव

देवराज इन्द्र से असत्कृत होकर देवगुरु बृहस्पति के स्वगृह से अलक्ष्य हो जाने पर ब्रह्माजी के परामर्श से देवों ने त्वष्टा सुत विश्वरूप से देवों को पौरोहित्य स्वीकृत करा कर असुरों के द्वारा देवताओं पर घिरे संकट को टालने का नम्र निवेदन किया । उनकी प्रार्थना स्वीकार कर विश्वरूप ने उन्हें अतिश्रेष्ठ 'नारायण कवच' का उपदेश दिया, जिससे संरक्षित होकर देवगण अपना ऐश्वर्य पुनः प्राप्त कर सके।

प्रस्तुत है श्रीमद्भागवत महापुराण के षष्ठ स्कन्ध के अष्टम अध्याय में वर्णित उसी मन्त्रमय नारायण कवच का पद्यानुवाद।

४/८

धौताङ्घ्रिपाणिराचम्य सपवित्र उदङ्मुखः।
कृतस्वाङ्गकरन्यासो मन्त्राभ्यां वाग्यतः शुचिः॥४॥

**बोले श्री विश्वरूप, "सुरपति, धो हाथ पैर आचमन करे ।
दो मन्त्रों से फिर अंग न्यास, हाथ में पवित्री पहन करे ॥**

५/८

नारायणमयं वर्म सन्नह्येद् भय आगते ।
पादयोर्जानुनोरूर्वोरुदरे हृद्यथोरसि ॥५॥

**भय आने पर नारायणमय, अति श्रेष्ठ कवच अभ्यास करे ।
पद, घुटने, जंघा, पेट हृदय, उर, मुख और सिर में न्यास करो॥**

६/८

मुखे शिरस्थानुपूर्व्यादोद्वारादीनि विन्यसेत् ।
ॐ नमो नारायणायेति विपर्ययमथापि वा ॥६॥

**जो 'ॐ नमो नारायणाय', इस मन्त्र अक्षरों से सुरवर।
या उलटे क्रम से भी इसका, अष्टांग न्यास कर ले वह नर॥**

७/८

करन्यासं ततः कुर्याद् द्वादशाक्षरविद्यया ।
प्रणवादियकारान्तमङ्गुल्यङ्गुष्ठपर्वसु ॥७॥
**फिर द्वादशाक्षर मन्त्र श्रेष्ठ, ले करन्यास उससे ही करा
क्रमशः आठे अंगुलियों औ, अंगुष्ठ पर्व को योजित करा॥**

८/८

न्यसेद्धृदय ओङ्कारं विकारमनु मूर्धनि ।
षकारं तु भ्रुवोर्मध्ये णकारं शिखया दिशेत् ॥८॥

‘ॐकार’ हृदय में न्यस्त और, मूर्धा में कर ‘वि’कार धारित ।
भौहों के मध्य ‘ष’ कार तथा, चोटी में हो ‘ण’ कार सुस्थित ॥

६/८

वेकारं नेत्रयोर्युञ्ज्यान्नकारं सर्वसन्धिषु ।
मकारमस्त्रमुद्दिश्य मन्त्रमूर्तिर्भवेद् बुधः ॥६॥
सविसर्गफडन्तं तत् सर्वदिक्षु विनिर्दिशेत् ।
ॐ विष्णवे नम इति ॥१०॥

‘वे’कार उभय नेत्रों में औ, हो न्यस्त ‘न’ कार सन्धियों पर ।
‘ॐमः अस्त्राय फट्’ कह कर ही, दिग्बन्ध कर वही ज्ञानी नर ॥
इस तरह ‘ॐ विष्णवे नमः’, मन्त्र के न्यास विधि का ज्ञाता।
जो मानव है वह निश्चय ही, निज रूप मन्त्र का पा जाता॥

११/८

आत्मानं परमं ध्यायेद् ध्येयं षट्शक्तिभिर्युतम् ।
विद्यातेजस्तपो मूर्तिमिमं मन्त्रमुदाहरेत् ॥११॥

धर ध्यान ध्येय परमात्मा का, छः श्रेष्ठ शक्तियों से पूरित।
विद्या तप तेज मूर्ति उत्तम, यह मंत्र करे तब उच्चारित॥

१२/८

ॐ हरिर्विदध्यान्मम सर्वरक्षां न्यस्ताङ्घ्रिपद्मः पतगेन्द्रपृष्ठे ।
दरारिचर्मासिगदेषुचाप-पाशान् दधानोऽष्टगुणोऽष्टबाहुः ॥१२॥

“श्री हरि ऊँकार स्वीप करें, सर्वतः मुझे अब संरक्षित।
खगराज गीड़ के कंधे पर, पद पद्म किये जो शुभ संस्थित॥
आठों हाथों में शंख चक्र, तलवार ढाल और गदा सहित।
सायक धनु और पाश आठों, हैं किए हुए अति शुभ धारित॥

१३/८

जलेषु मां रक्षतु मत्स्यमूर्तिर्यादोगणेभ्यो वरुणस्य पाशात् ।
स्थलेषु मायावटुवामनोऽव्यात् त्रिविक्रमः खेऽवतु विश्वरूपः ॥१३॥
जलदेव वीण के बंधन से, जल के सारे जलचरों सहित।
प्रभुमत्स्यमूर्ति भगवान करें, जल के भीतर मुझको रक्षित॥
स्थल पर वे जो माया से है, वटु वामन ीप किये धारण।
भगवान त्रिविक्रम विश्वीप, व्योम में करें मेरा रक्षण॥

१४/८

दुर्गेष्वटव्याजिमुखादिषु प्रभुः पायानृसिंहोऽसुरयूथपारिः।
विमुञ्चतो यस्य महाट्टहासं दिशो विनेदुर्न्यपतंश्च गर्भाः॥१४॥

जिनका सुन महाट्टहास घोर, हो गयी दिशाएँ सब गुंजित।
औ जिससे दैत्यपत्नियों के, भयविवश हो गए गर्भ पतित॥
वे दैत्य यूथपतियों के रिपु, भगवान नृसिंह श्रेष्ठ प्रभुवर।
अब मेरी रक्षा करें विकट, वन दुर्ग युद्ध के स्थानों पर॥

१५/८

रक्षत्वसौ माध्वनि यज्ञकल्पः स्वदंष्ट्रयोनीतधरो वराहः।
रामोऽद्रिकूटेष्वथ विप्रवासे सलक्ष्मणोऽव्याद् भरताग्रजोऽस्मान्॥१५॥

भगवान् यज्ञ विग्रह वराह, मार्ग में करे मेरा रक्षण।
निज दाढ़ों पर हैं किये हुए, जो इस भूमण्डल को धारण॥
प्रभु परशुराम गिरिशिखरों पर, औ लक्ष्मण सहित करें रक्षण।
भगवान् राम भरताग्रज जो, मेरे बाहर प्रवास के क्षण॥

१६/८

मामुग्रधर्मादखिलात् प्रमादान्नारायणः पातु नरश्च हासात्।
दत्तस्त्वयोगादथ योगनाथः पायाद् गुणेशः कपिलः कर्मबन्धात्॥१६॥

सम्पूर्ण उग्र अभिचारों से, और सभी प्रमादों से रक्षित।
मुझको श्रीनारायण कर दें, नर करें गर्व से संरक्षित॥
योगपति दत्त योग के विविध, विघ्नों से कर दें संरक्षण।
त्रिगुणेश कपिल भगवान करें, सब कर्म बन्धनों से रक्षण॥

१७/८

सनत्कुमारोऽवतु कामदेवाद्द्वयशीर्षा मां पथि देवहेलनात्।
देवर्षिवर्यः पुरुषार्चनान्तरात् कूर्मो हरिर्मा निरयादशेषात्॥१७॥

ऋषि सनत्कुमार करें मुझको, प्रभु कामदेव से संरक्षित।
हयशीर्ष करें रक्षा यदि हों, देवता मार्ग में अवहेलित॥
प्रभु पूजन के अपराधों से, रक्षा करदें देवर्षि प्रवर।
दें प्रभु कच्छप भगवान घोर, नर्कों से मेरी रक्षा कर॥

१८/८

धन्वन्तरिर्भगवान् पात्वपथ्याद् द्वन्द्वाद् भयादृषभो निर्जितात्मा।
यज्ञश्च लोकादवताञ्जनान्ताद् बलो गणात् क्रोधवशादहीन्द्रः॥१८॥

श्री धन्वन्तरि भगवान करें, मुझको कुपथ्य से संरक्षित।
विजितेन्द्रिय ऋषभ देव कर दें, भयदायक द्वन्द्वों से रक्षित॥
लोकापवाद से यज्ञ पुरुष बलराम कष्ट से मानवकृत।
श्री शेषनाग कर दें मुझको, क्रोधवश सर्प से संरक्षित॥

१६/८

द्वैपायनो भगवानप्रबोधाद् बुद्धस्तु पाखण्डगणात् प्रमादात्।
कल्किः कलेः कालमलात् प्रपातु धर्माविनायोरुक्तावतारः ॥ १६ ॥

अज्ञान से करें रक्षा अब, भगवान व्यास जी द्वैपायन।
पाखण्डों और प्रमादों से, मेरा प्रभु बुद्ध करें रक्षण॥
कलियुग के सारे दोषों से, वे कल्कि करें मेरा रक्षण॥
धर्म की सुरक्षा हेतु किये, जो यह मान अवतार ग्रहण॥

२०/८

मां केशवो गदया प्रातरव्याद्गोविन्द आसङ्गवमात्तवेणुः।
नारायणः प्राह्य उदात्तशक्तिर्मध्यन्दिने विष्णुररीन्द्रपाणिः ॥ २० ॥

प्रातःकाल में करें रक्षा, केशव भगवान गदा लेकर।
बाँसुरी लिए गोविन्द करे, कुछ दिन ऊपर चढ़ आने पर॥
हार्था में लेकर तीक्ष्ण शक्ति, दो पहर पूर्व श्री नारायण।
चक्रपति सुदर्शन लिए विष्णु, मध्याह्न में करें सरंक्षण॥

२१/८

देवोऽपराह्णे मधुहोग्रधन्वा सायं त्रिधामावतु माधवो माम्।
दोषे हृषीकेश उतार्धरात्रे निशीथ एकोऽवतु पञ्चनाभः ॥ २१ ॥

ले धनुष प्रचण्ड करें रक्षा, अपराहन काल में मधुसूदन।
प्रभुवर त्रिमूर्तिधारी माधव, अब सायं समय करें रक्षण॥
सूर्योस्त बाद प्रभु हृषीकेश, औ अर्द्धरात्रि के पूर्व विदित।
या अर्द्धरात्रि में पद्मनाम, एकाकी मुझे करें रक्षित॥

२२/८

श्रीवत्सधामापररात्र ईशः प्रत्यूष ईशोऽसिधरो जनार्दनः।
दामोदरोऽव्यादनुसन्ध्यं प्रभाते विश्वेश्वरो भगवान् कालमूर्तिः ॥ २२ ॥

रात्रि में बाद में प्रहार करें, श्रीवत्सधाम श्रीहरि रक्षित।
औ उषाकाल में असिधारी, भगवान जनार्दन संरक्षित॥
सूर्योदय पूर्व करें रक्षा, भगवान स्वयं श्री दामोदर।
औ फिर सारी सन्ध्याओं में, प्रभु कालमूर्ति श्री विश्वेश्वर॥

२३/८

चक्रं युगान्तानलतिग्मनेमि भ्रमत् समन्ताद् भगवत्प्रयुक्तम्।
दन्दग्धि दन्दग्धिरिसैन्यमाशु कक्षं यथा वातसखो हृताशः ॥ २३ ॥

हे चक्र सुदर्शन युग अन्तक, अग्नि के सद्गुण अति तीक्ष्णधार।
प्रभु प्रेरित भ्रमण किया करते, सब जगह आप ही हर प्रकार॥
अतिशीघ्र शत्रु की सेना का, अब करें दहन अब करें दहन।
ज्यो शुष्क घास को भस्म करे, अति तीव्र अग्नि पा मित्र पवन॥

२४/८

गदेऽशनिस्पर्शनविस्फुलिङ्गे निष्पिण्डि निष्पिण्डयजितप्रियासि ।
कूष्माण्डवैनायकयक्षरक्षो-भूतग्रहांश्चूर्णय चूर्णयारीन् ॥२४॥

हे गदा अजित की प्यारी तुम, और मैं हूँ प्रभु का दास परमा।
तुझसे निकली चिनगारी का, है स्पर्श असह्य बज्र के सम।।
कूष्मांड विनायक यक्ष भूत, राक्षस गण और ग्रह आदि सभी।
दे कुचल कुचल दे चूर्ण करे, प्रभु चूर्ण करे सब शत्रु अभी॥

२५/८

त्वं यातुधानप्रमथप्रेतमातृ-पिशाचविप्रग्रहघोरदृष्टीन् ।
दरेन्द्र! विद्रावय कृष्णपूरितो भीमस्वनोऽरेर्हृदयानि कम्पयन् ॥२५॥

हे शंखश्रेष्ठ उत्पन्न करो, भगवान् कृष्ण से हो पूरित।
भयकारी स्वर जिससे दहले, मेरे सारे रिपुओं का चित।।
जो यातुधान या प्रमथ प्रेत, मातृका पिशाच सहित भगवना।
हैं ब्रह्मराक्षस आदि घोर, दर्शन को दूर करें तत्क्षण॥

२६/८

त्वं तिग्मधारासिवरारिसैन्य-मीशप्रयुक्तो मम छिन्धि छिन्धि ।
चक्षुषि चर्मच्छतचन्द्र! छादय द्विषामघोनां हर पापचक्षुषाम् ॥२६॥

हे तिग्मधार तलवार श्रेष्ठ, प्रभु से प्रयुक्त होकर हर क्षण।
कर दो तुम छिन्न भिन्न निश्चय, मेरे सारे रिपुओं के गण॥
शतचन्द्र चिह्न से युक्त ढाल, जो पाप दृष्टि करने रिपुगण।
सब दिन के लिए उन्हें अन्धा, कर दो तुम उनके छीन नयन॥

२७/८

यन्नो भयं ग्रहेभ्योऽभूत् केतुभ्यो नृभ्य एव च ।
सरीसृपेभ्यो दंष्ट्रिभ्यो भूतेभ्योऽहोभ्य एव वा ॥२७॥
ग्रह केतु दुष्टजन उरग और, दाँतों वाले प्राणियों सहित।
सब भूत आदि से जो भी भय, हो मेरे मन में उत्पादित॥

२८/८

सर्वाण्येतानि भगवन्नामरूपास्त्रकीर्तनात् ।
प्रयान्तु संक्षयं सद्यो ये नः श्रेयः प्रतीपकाः ॥२८॥

वे सभी और मंगल के सब, प्रतिरोधी नष्ट करें तत्क्षण।
प्रभु के ही नाम स्वरूप और, अस्त्रों का करके संकीर्तन॥

२९/८

गरुडो भगवान् स्तोत्रस्तो भश्छन्दोमयः प्रभुः ।
रक्षत्वशेषकृच्छेभ्यो विष्वक्सेनः स्वनामभिः ॥२९॥

छन्दों से स्तुत होते हैं जो, उन वेदमूर्ति प्रभु गरुड़ सहित ।
विष्वक्सेन के नाम कर दे, सारी विपत्तियों से रक्षित॥

३०/८

सर्वापद्भ्यो हरेर्नाम-रूपयानायुधानि नः।
बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् पान्तु पार्षदभूषणाः।।३०।।

हरिनाम रूप आयुध वाहन, औ प्रभु के सब पार्षदभूषण।
इन्द्रियाँ बुद्धि मन प्राणों का, ये करें संकटों से रक्षण॥

३१/८

यथा हि भगवानेव वस्तुतःसदसच्च यत्।
सत्येनानेन नः सर्वे यान्तु नाशमुपद्रवाः।।३१।।

जो कुछ है सत्य असत्य जगत, भगवान स्वयं ही हैं निश्चित।
यह सत्य नष्ट कर दे समस्त, जो रहे उपद्रव समुपस्थित॥

३२/८

यथैकात्म्यानुभावानां विकल्परहितः स्वयम्।
भूषणायुधलिङ्गाख्या धत्ते शक्तीः स्वमायया।।३२।।

एकात्म जिन्हें अनुभावित है, उनको प्रभु स्वयं विकल्प रहित।
आयुध भूषण औ पी शक्ति, माया से किये दिखे धारित॥

३३/८

तेनैव सत्यमानेन सर्वज्ञो भगवान् हरिः।
पातु सर्वैः स्वरूपैर्नः सदा सर्वत्र सर्वगः।।३३।।

इस सत्य तथ्य से सर्वज्ञात, सर्वग प्रभु श्रीहरि नारायण।
हम सबका करें सर्वव्यापक, निज सर्व स्वीपों से रक्षण॥

३४/८

विदिक्षु दिक्षूर्ध्वमधः समन्ता-दन्तर्बहिर्भगवान् नारसिंहः।
प्रहापयल्लोकभयं स्वनेन स्वतेजसा ग्रस्तसमस्ततेजाः।।३४।।

विदिशाओं और दिशाओं में, नीचे ऊपर भीतर बाहर।
वे ही भगवान् नृसिंह हमें, सर्वतः यहाँ दें रक्षित कर॥
जिनका भयकारी अट्टहास, हर लेता है लोकों का भय।
अपने तेज से ग्रसित करते, जो सबके तेजों को निश्चय॥”

बहुविध भय से भीत हैं, 'मानव' के मन प्राण।
रक्षा करना सर्वविध, स्वामी कृपानिधान॥

श्रीकृष्णार्पणमस्तु

श्री राधाकृष्ण ठाकुरबाड़ी
सामस, बरबीघा
शेखपुरा

धरोहर

हर हर महादेव

स्व० आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

महाबल नाग को भी क्षमादान किया

ब्रह्म-पुराण के अनुसार भगवान् शंकर शेषनाग के पुत्र महाबल को सदा अपने हाथ में लपेटे रहते थे। वह उन्हीं के पास रहता ही था। एक बार शिव कहीं अकेले में पार्वती के साथ बातें करते हुए ठठाकर हँस पड़े। महाबल नाग से न रहा गया। वह भी ही ही करके हँस पड़ा। इस पर तो शिव रुद्र बन गये—“तू मेरा शिंगार बनकर ही ही करके हँसता है, तेरा इतना हियाव? जा तू धरती पर जाकर सर्प बनकर घूम।”

महाबल अपनी ढिठाई पर पछताता हुआ हाथ जोड़कर गिर गिराने लगा— “ आप तो मेरे स्वामी हैं। मैंने जो किया उसके लिए कान पकड़ता हूँ, पैरों पड़ता हूँ। मुझे क्षमा कीजिए।”

इतना सुनना था कि शिव पसीज गये—“अच्छ, जा धरती पर पहुँचकर भी तू जैसा चाहा करेगा वैसा रूप बना लिया करता रहेगा। तेरी पत्नी भी वहाँ भोगवती नाम से तेरी पत्नी बनकर मिल जायगी। धरती पर गौतमी (गोदावरी) नदी के तीर पर मेरी पूजा करने से तुझे दिया हुआ मेरा शाप छूट जायगा।”

यह तो होना ही था। प्रतिष्ठानपुर (वर्तमान गोदावरी तट पर पैठन नामका नगर) के चन्द्रवंश के राजा शूरसेन के पुत्र हुआ तो पर मनुष्यों के बालकों-जैसा न होकर बड़ा विषैला काला नाग होकर जनमा। उसे देखते ही रानी के तो प्राण सूख गये। पर तभी उस नाग ने मनुष्यों की बोली में कहा—“ जरिए मत मैं आपका बेटा हूँ। जैसा कहती चलिएगा वैसा ही करता चलूँगा।” राजा और रानी दोनों उसे सात पर्दों में रख कर पालने-पोसने लगे और उसका नाम भी उन्होंने नागेश्वर रख दिया। यह सब तो जानते

थे कि राजकुमार नागेश्वर राजा का बेटा है पर कैसा है, यह किसी ने नहीं देखा।

उधर बंग देश के राजा की बहन जब बड़ी हो चली और राजा को यह समाचार मिला कि प्रतिष्ठानपुर के राजा का राजकुमार भी बड़ा हो गया है, तब उन्होंने एक ब्राह्मण के हाथ टीका भेजकर कहलवाया कि विवाह कर लिया जाय। राजा शूरसेन ने कहा—“ हमारे यहाँ न तो बारात जाती न राजकुमार जाता। बस तलवार भेज दी जाती है। उसी के साथ फेरे फिरवाकर बहू ले आई जाती है। यह बात मानते हों तो विवाह पक्का समझिए।” लड़कीवाला तो यों ही दबा रहता है चाहे वह राजा हो या रंक। बात मान ली गई और बहू घर में आ गई।

आते ही उसने देखा कि उसका पति मनुष्य नहीं नाग है पर बोलता मनुष्यों-जैसा है। बस इसी बात पर वह उस नाग पर ही रीझ गई और बोली—“नाग हो तो क्या, अब तो तुम्ही मेरे सब कुछ हो।” वह सच्ची लगन के साथ उस नाग की वैसी ही सेवा करने लगी जैसे पति की करनी चाहिए। शिव ने तो कहा ही था कि तुम जैसा चाहोगे वैसा ही रूप बना लिया करोगे। नाग भी, जब वह कहती थी या जब वह चाहता था तब वह मनुष्य रूप हो जाया करता। वह ऐसी पतिव्रता निकली कि नाग को अपने पिछले जनम में शिव का दिया हुआ शाप एक दिन स्मरण हो आया। बस, फिर क्या था? दोनों दबे पाँव चुपचाप घर से निकलकर गोदावरी के तीर पर शिव की पूजा करने जा बैठे और शिव के शाप से छूट गए।

ऐसी है अचूक भगवान् शंकर की कृपा।

व्याघ्रपाद को बाघ के पंजे

शिवपुराण के अनुसार लाखों बरस पुरानी बात है। एक ब्राह्मण बालक जब विद्याएँ पढ़कर गुरुकुल से लौटा तब घर बसाने के बदले उसने सोचा कि घर तो और लोग भी बसाए बैठे हैं, क्यों न अपना यह मनुष्य जीवन सुधार कर मरने-जीने के चक्कर से छुटकारा पा लिया जाय। बस वह चलते चलते एक पहाड़ी की तलहटी में फैली हुई हरियाली के बीच ऐसे तपोवन में जा पहुँचा, जहाँ पहले से किसी ने शिवलिंग पधरा रखा था। बस वह सबेरे, दोपहर और साँझ को नहा-धोकर बड़े मन से उस शिवलिंग की पूजा पर जा बैठता, जो फल-मूल मिल जाता वही खा रहा करता और कमल के फूल तालाब से निकाल निकाल कर शिवलिंग पर ला चढ़ाया करता था।

एक दिन उसने सोचा कि ऊपर पहाड़ पर बहुत से पेड़ों और लताओं पर रंग-बिरंगे फूल फूले हुए हैं, उन्हें उतार लाया जाय। पर वहाँ तक पहुँचें तो कैसे पहुँचें! एक दिन वह अँधेरे मुँह उठकर ऊपर चढ़ा भी और उसने फूल भी उतारे पर पहाड़ की चोटी से उतरते उतरते सूरज सिर पर चढ़ आया। फिर भी वह नहा-धोकर पूजा करने जा ही बैठा। पर यह क्या? जो फूल वह लाया था सब मुरझाए पड़े थे। उसका जी बैठ गया। ऐसे फूल भला मैं कैसे चढ़ा पाऊँगा?

बस इस सोच में वह अचेत हो गिर पड़ा। पर भगवान् तो अपने भक्त के मन की बात जानते ही हैं। बस शिवजी झट आ प्रकट हुए। उन्होंने क्या किया कि वे सारे फूल तो अपनी जटाओं में उठा सजाए और हाथ से उस अचेत पड़े हुए ब्राह्मण युवक को थपथपाकर जगा उठाया।

उनका छूना था कि युवक चौंकर उठ बैठा। सामने उसके देवता खड़े मुसकरा रहे थे और उसके लाये हुए सारे फूल उनकी जटाओं में खिले हुए सज रहे थे। बस वह अपने देवता के पैरों पर लोट गया।

शिव ने बहुत उठाना चाहा और वह भी उठने को तो उठा पर फिर चरणों में जा लोटा। शिव ने कहा—“उठो बेटा! तुम्हारे लिए हुए ये फूल मुझे बड़े अच्छे लगे हैं। अब तुम माँगो क्या माँगते हो।”

उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि माँगूँ तो क्या माँगूँ। उसने हाथ जोड़कर कहा—“मुझे तो कुछ चाहिए नहीं। हाँ, इतना ही मन में है कि मैं जहाँ भी रहूँ, जिस योनि में भी जनमूँ उसमें आपके चरणों की पूजा किया करता रहूँ।

शिव ने कहा—“ठीक है, तुम्हारे मन में सदा मेरी भक्ति बनी रहा करेगी और जो भी हो माँग लो।” वह कुछ सकुचाता झिझकता हुआ बोला—“आपकी पूजा के फूल ऊपर से उतार कर लाने में मेरे पाँव फिसल जाते हैं। मेरे हाथ-पाँव बाघ के -के हो जायँ कि मैं फूरती के साथ झट उतरने चढ़ने लगूँ, ऐसी छह आँखें हो जायँ कि अन्दरे में भी मुझे दिखाई देने लगे और मैं रात में भी ऊपर पहाड़ से उतारे लिए चला आया करूँ।” वाह माँगना भी तो क्या माँगना! यह भी कोई माँगने में माँगना है?

शिव को हाँ कहते क्या देर लगनेवाली थी! उन्होंने कह दिया—“ठीक है ऐसा ही हो।” अब तो उसके दो के बदले छह आँखें हो गईं और हाथ पाँव के पंजे, ऐसे बाघ के से हो गये कि वह झट खट-खट ऊपर चढ़ा चला जाता, नीचे उतरा चला आता और किसी लता-पेड़ का कोई फूल ऐसा न बच पाता जो उसकी आँखों की पकड़ से बचा रह जाता और जिसे वह पूजा के लिए उतर न ला पाता।

तबसे उसका नाम ही व्याघ्रपाद (बाघ के पंजोंवाला) पड़ गया और वहाँ बने हुए लिंग का नाम भी उसी के नाम पर व्याघ्रेश्वर पड़ गया।

स्वनामधन्य

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी की पुस्तक
हर हर महादेव से साभार

₪ व्रत-व्योहार ₪

वासन्त नवरात्र : दि० ६ अप्रैल से १७ अप्रैल तक

रामनवमी व्रत : १७ अप्रैल

चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि को मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के अवतार-ग्रहण के उपलक्ष्य में रामनवमी व्रत की परम्परा प्राचीन काल से रही है। वाल्मीकीय रामायण के बालकाण्ड के १८वें सर्ग के अनुसार चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि को पुनर्वसु नक्षत्र और कर्क लग्न में कौशल्या के गर्भ से श्रीराम का जन्म हुआ।

भारत-रत्न पाण्डुरंग वामन काणे ने 'धर्मशास्त्र का इतिहास' नामक कालजयी ग्रन्थ में रामनवमी की तिथि के निर्धारण में धर्मशास्त्रीय-ग्रन्थों के आधार पर यह निर्णय दिया है कि यदि नवमी तिथि दो दिन हो, तो जिस दिन मध्याह्न में नवमी तिथि हो उस दिन रामनवमी मनायी जानी चाहिए।

रामनवमी व्रत के निर्णय में लग्न नक्षत्र एवं तिथि तीनों का समावेश किया जाता है। इस व्रत के सम्बन्ध में निर्णय देते हुए माधवाचार्य (१४वीं शती) ने अपने ग्रन्थ 'कालमाधव' में लिखा है -

चैत्रशुक्ला तु नवमी पुनर्वसुयुता यदि।

सैव मध्याह्नयोगेन महापुण्यतमा भवेत्।

इस प्रकार माधवाचार्य ने इसे मध्याह्न-व्यापिनी माना है, अर्थात् जिस दिन दोपहर में नवमी तिथि होगी, उस दिन रामनवमी व्रत होगा।

प्रसिद्ध धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ 'निर्णय-सिन्धु' के अनुसार भी यह तिथि मध्याह्न-व्यापिनी है। इस ग्रन्थ के अनुसार पूर्व दिन में ही मध्याह्न के समय नवमी तिथि रहने पर उसी दिन व्रत होना चाहिए- पूर्वद्युरेव मध्याह्नयोगे कर्मकालव्याप्तेः सैव ग्राह्या। इस निर्णय के पक्ष में ग्रन्थकार ने अगस्त्य-संहिता के वचन को उद्धृत किया है, जिसके अनुसार श्रीराम का जन्म पुनर्वसु नक्षत्र एवं कर्क लग्न में हुआ था। यहाँ यह ध्यातव्य है कि चैत्र मास में मीन लग्न के अन्तिम चरण में या मेष के प्रथम चरण में सूर्योदय होता है। इसलिए कर्क लग्न निश्चित रूप से मध्याह्न के समय होगा। अतः शास्त्रकारों ने इसे मध्याह्न-व्यापिनी माना है।

इस वर्ष दि० १७ अप्रैल रविवार के दिन कर्क लग्न ११:१६ से १:३४ बजे तक है तथा नवमी तिथि प्रातः ८:१४ से प्रारम्भ हो जाती है। दूसरे दिन कर्क लग्न प्रारम्भ होने के साथ ही नवमी तिथि १०:१७ बजे समाप्त हो जाती है। इस प्रकार नवमी एवं कर्क लग्न का योग दूसरे दिन नहीं हो पाता है। धर्मशास्त्रीय नियम के अनुसार यदि तिथि, नक्षत्र, एवं लग्न इन तीनों का संयोग हो जाये, तो वह स्थिति सर्वोत्तम होगी, ऐसा संयोग नहीं मिलने पर दो का संयोग देखना चाहिए। अन्तिम स्थिति में केवल तिथि के अनुसार रामनवमी व्रत करना चाहिए। इस तरह रविवार के दिन नवमी तिथि एवं कर्क लग्न का संयोग उपस्थित है, किन्तु दूसरे दिन केवल तिथि है। अतः शास्त्र के अनुसार पहले दिन रामनवमी व्रत होना चाहिए।

कुछ लोग सभी व्रतों का निर्धारण उदया तिथि के आधार पर करते हैं। किन्तु यह सामान्य नियम है। विशिष्ट नियम यह है कि रामनवमी, जन्माष्टमी आदि जयन्तियाँ भगवान् के जन्मकाल में जो तिथि व्याप्त रहती है, उसके अनुसार मनायी जाती है, न कि उदया तिथि के अनुसार।

अतः इस बार रामनवमी दि० १७ अप्रैल, रविवार को विहित है।

अक्षय तृतीया, परशुराम जयन्ती : ११ मई

भविष्य पुराण के ३० वें अध्याय के अनुसार सत्ययुग का आरम्भ इसी तिथि से हुआ था अतः इस दिन जो कुछ भी दान, स्नान, जप, होम, वेदाध्ययन आदि पवित्र कर्म किये जाते हैं, उनका फल अक्षय होता है। इस दिन रात्रि में भोजन करने का निषेध किया गया है। इसी दिन रेणुका के गर्भ से परशुराम के रूप में भगवान् विष्णु का अवतार माना जाता है।

श्री जानकी नवमी : १७ मई

वैशाख शुक्ल नवमी के दिन जानकी का अवतार माना जाता है। यह भी मध्याह्नव्यापिनी तिथि है, अर्थात् जिस दिन दोपहर में नवमी तिथि हो उसी दिन यह व्रत किया जाता है।

नरसिंहावतार : २२ मई

वैशाख शुक्ल चतुर्दशी नृसिंह चतुर्दशी के नाम से जाना जाता है। मान्यता के अनुसार भगवान् विष्णु ने इस दिन अवतार ग्रहण कर हिरण्यकशिपु का संहार कर अपने भक्त प्रह्लाद की रक्षा की थी।

वटसावित्री व्रत : ६ जून

महाभारत(वनपर्व २६३-२६६), मत्स्यपुराण २०८-२१४, स्कन्द-पुराण प्रभास खण्ड अध्याय १६६ एवं विष्णुधर्मोत्तर-पुराण २।३६-४१ आदि स्थलों पर सावित्री और सत्यवान् की कथा का उल्लेख हुआ है, जिसमें अपने पातिव्रत्य के बल पर अपने पति का प्राण बचाने के लिए यमराज से भी नहीं डरनेवाली सावित्री का उल्लेख हुआ है। इस दिन सधवा स्त्रियाँ पति की लम्बी आयु के लिए वट-वृक्ष की पूजा करती हैं। वृक्ष में कच्चा धागा लपेटा जाता है और सावित्री की कथा सुनी जाती है।

सोमवती अमावस्या : ६ जून

सोमवार के साथ यदि अमावस्या तिथि का योग होने पर सोमवती अमावस्या का योग होता है। भविष्योत्तर पुराण की कथा के अनुसार शर-शय्या पर लेटे भीष्म पितामह ने इस व्रत का उपदेश किया था। युद्ध समाप्ति के बाद पाण्डवों के वंश भी समाप्त होने के कगार पर पहुँच गया। एक मात्र उत्तरा गर्भवती थी। वह गर्भवस्थ शिशु भी अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से दग्ध हो चुका था। ऐसी परिस्थिति चिन्तित युधिष्ठिर को भीष्म पितामह ने उत्तरा के लिए इस वैष्णव व्रत का उपदेश किया। इसमें नदी के किनारे पीपल के वृक्ष के नीचे भगवान् विष्णु की पूजा कर १०८ संख्या में कोई फल लेकर १०८ बार वृक्ष की परिक्रमा विधान किया गया है।

गंगा दशहरा : १७ जून

ज्येष्ठ शुक्ल दशमी तिथि को स्वर्ग से गंगा के अवतरण के उपलक्ष्य में गंगादशहरा का व्रत किया जाता है। इस दिन गंगा में स्नान करने से दस प्रकार के पापों का शमन होता है। एक अन्य उल्लेख के अनुसार इस दिन गंगा का अवतरण दस योग में हुआ था। ज्येष्ठ मास, शुक्ल पक्ष, दशमी तिथि, मंगलवार या बुधवार, हस्त नक्षत्र, व्यतीपात योग, गर करण, आनन्द योग, कन्या राशि में चन्द्रमा एवं वृष राशि में सूर्य— ये दश योग कहे गये हैं। इनमें से योगों की संख्या जिस वर्ष जितनी अधिक होगी, दशहरा का व्रत उतना प्रशस्त माना जायेगा। यदि ज्येष्ठ में मलमास भी हो, फिर भी मलमास में ही दशहरा होती है। निर्णय-सिन्धु में कमलाकर ने इसे दस दिनों तक चलनेवाला पर्व बतलाया है। उनके अनुसार ज्येष्ठ शुक्ल प्रतिपदा से गंगा के तट पर गंगा स्तोत्र का वृद्धि पाठ प्रतिपदा के दिन एक बार, द्वितीया के दिन दो बार इत्यादि के क्रम से करना चाहिए। इसप्रकार दशमी के दिन दश बार स्तोत्र का पाठ, षोडशोपचार पूजन आदि करना चाहिए। चावल के पीठा से बने जलीय जीवों का समर्पण भी करना चाहिए। स्तोत्र एवं पाठ की विधि धर्म-सिन्धु में उद्धृत किया गया है।

श्रीजगन्नाथ रथयात्रा : ८ जुलाई

आषाढ़ शुक्ल द्वितीया को पुरी में भगवान् जगन्नाथ की रथयात्रा का उत्सव मनाया जाता है। इस दिन इसकी अनुकृति में देश के विभिन्न वैष्णव मन्दिरों में भी इस उत्सव का आयोजन होता है।

हरिशयन एकादशी : १७ जुलाई

आषाढ़ शुक्ल एकादशी के दिन चानुर्मास्य व्रत का आरम्भ होता है। इस दिन से भगवान् क्षीरसागर में शयन करते हैं।

गुरु पूर्णिमा : २१ जुलाई

व्यासजी के जन्म के अवसर पर इस दिन व्यास की पूजा होती हो तथा गुरुकुलों में गुरु की पूजा की जाती है।

नागपंचमी (मौना पंचमी) : २६ जुलाई

भारत में नाग-पूजा की प्राचीन परम्परा है। उत्तर भारत में श्रावण कृष्ण की पंचमी से नागपूजा प्रारम्भ होकर पन्द्रह दिनों तक चलती है। कृष्णपक्ष की पंचमी को मौनापंचमी के नाम से जाना जाता है। इस दिन नीम कापत्ता, आम की सूखी गुठली, खट्टा अनार, जम्बीरी नीबू आदि के भक्षण की परम्परा है। कटहल खाना भी इस दिन प्रशस्त माना जाता है। कहीं कहीं घरों में नीम की डालियाँ लगायी जाती है।

मधुश्रावणी व्रत : ८ अगस्त

नव-विवाहिता अपने सौभाग्य की वृद्धि के लिये आषाढ़ कृष्ण पंचमी से लेकर नाग देवती की पूजा करती हैं। इस पूजा का समापन श्रावण शुक्ल तृतीया को मधुश्रावणी के दिन होता है। इस दिन गौरी की पूजा विशेष रूप से होती है।

नागपंचमी : १० अगस्त

पन्द्रह दिनों तक चलनेवाली नाग-पूजा का समापन इस दिन होता है। सन्ध्या काल धान का लाबा, चूहे के द्वारा खोदी गयी मिट्टी, कपास के बीज आदि को नागमन्त्र से अभिमन्त्रित कर घर के चारों ओर बिखेरने की भी परम्परा कहीं कहीं है।

तुलसी जयन्ती : १२ अगस्त

रामचरितमानस के अमर गायक एवं परम रामभक्त महाकवि तुलसीदास की जयन्ती इस दिन मनायी जाती है।

रक्षाबन्धन : १६ अगस्त

श्रावण की पूर्णिमा को अपराह्न में एक कृत्य किया जाता है। श्रेष्ठ व्यक्ति द्वारा आशीर्वाद देने योग्य लोगों को कलाई पर रक्षा-सूत्र बाँधने का विधान किया गया है। आजकल बहन द्वारा भाई की कलाई पर राखी बाँधने की परम्परा भव्य स्वरूप धारण कर चुकी है।

श्रीकृष्णाष्टमी व्रत : २६-२७ अगस्त

दुर्गासप्तशती में तीन प्रकार की रात्रियों का उल्लेख हुआ है— कालरात्रि, महारात्रि एवं मोहरात्रि। इनमें से मोहरात्रि के निशीथ काल में कारागार में भगवान् कृष्ण एवं यशोदा के गर्भ से जगदम्बा की उत्पत्ति का वर्णन हुआ है। इस वर्ष अष्टमी तिथि दि० २६ अगस्त के दिन १२:४० से २७ अगस्त के दिन १२:१७ तक है, तथा रोहिणी नक्षत्र रात्रि २:१८ से रात्रि ३:१७ तक है। मध्य-रात्रि में अष्टमी एवं रोहिणी नक्षत्र का योग नहीं बनता है अतः जयन्ती व्रत का योग इस वर्ष नहीं है। अतः सामान्य नियम से पूर्व दिन स्मार्तों का तथा दूसरे दिन वैष्णवों का व्रत है। कृष्ण-दर्शन और उत्सव दि० २७ को होगा।

कुशी अमावस्या : ३ सितम्बर

भाद्र मास की अमावस्या को उखाड़ा गया कुश एक वर्ष तक पर्युषित अर्थात् बासी नहीं होता है— ऐसा कहा गया है। अतः यह तिथि कुशोत्पादनी अमावस्या के नाम से भी प्रसिद्ध है।

हरितालिका व्रत (तीज) : ६ सितम्बर

हरितालिका नारियों का महत्त्वपूर्ण व्रत है। ऐसा कहा गया है कि भगवान् शंकर के प्रति समर्पिता पार्वती को इस दिन उनकी सखियों ने भगवान् शंकर के पास पहुँचा दिया था, इसके उपलक्ष्य में स्त्रियाँ अपने सौभाग्य के लिए व्रत रखती हैं। 'व्रतराज' नामक ग्रन्थ में इस के नामकरण की व्याख्या इस प्रकार की गयी है— आलीभिर्हरिता यस्मात्तस्मात्सा हरितालिका। रुद्रधर ने इस व्रत की एक कथा दी है, जो भविष्योत्तर-पुराण से संकलित कही गयी है। इस कथा के अनुसार महादेव पार्वती से यह कथा सुनाते हैं कि हरितालिका व्रत करने से पार्वती के सौभाग्य में इतनी वृद्धि हुई कि वह देवाधिदेव महादेव को प्राप्त कर सकी। इस कथा के आरम्भ में अर्द्धनारीश्वर की स्तुति अत्यन्त प्रसिद्ध है—

मन्दारमालाकुलितालकायै कपालमालाङ्कितशेखराय ।

दिव्याम्बरायै च दिगम्बराय नमः शिवायै च नमः शिवाय । ।

पितृपक्ष का आरम्भ : १८ सितम्बर

पन्द्रह दिनों तक चलनेवाला पितृपक्ष पितरों के निमित्त तर्पण आदि के लिए विहित है। इसका आरम्भ प्रतिपदा तिथि को होता है। इस दिन से जलाशय में जाकर प्रतिदिन पितरों को जल देने की परम्परा है।

जीमूतवाहन व्रत : २६ सितम्बर

स्त्रियाँ अपने पुत्रों की आयु के लिए यह व्रत रखती हैं। विद्याधर राजा जीमूतवाहन, जिन्होंने अपना शरीर देकर शंखचूड़ नाग की रक्षा गरुड़ से की थी, इस व्रत के देवता हैं। यह कथा बौद्ध साहित्य में भी प्रसिद्ध है। सम्राट हर्षवर्द्धन का एक संस्कृत नाटक नागानन्द इसी कथा पर आधारित है।

मातृनवमी : २६ सितम्बर

पितृपक्ष की नवमी तिथि के दिन मृत माताओं अर्थात् स्त्रियों के निमित्त तर्पण आदि का विधान किया गया है।

पितृपक्षीय पार्वणान्त : ३ अक्टूबर

पितृपक्ष के अन्तिम दिन परम्परानुसार पार्वण करने का विधान किया गया है।

v v

पाठकीय प्रतिक्रिया

मार्च २००५ का अंक पढ़ा। मैं आनन्द के सागर में डूब गया। मेरी खुशी की सीमा न रही। पृष्ठ २ वाग् वै सरस्वती, पृष्ठ ६ आर्य संस्कृति और बिहार, पृष्ठ १३ इन्द्रभूति गौतम गणधर, पृष्ठ १७ प्रसाद के नाटकों में राष्ट्रीय चेतना, पृष्ठ २२ आत्मनो मोक्षार्थम्..., पृष्ठ २४ सर्वोपरि धर्म, पृष्ठ १८ कालपुरुष की योजना, पृष्ठ ५७ असुर संहार की कारणभूत सीता आदि सभी लेखों को पढ़ने पर जो ज्ञान मिला, उसके प्रसंग में भगवान् से प्रार्थना है कि यह प्राप्त ज्ञान, मैं कर्मवश जिस योनि में जन्म लूँ मुझे स्मरण रहे। क्या लिखूँ? वाणी में क्षमता नहीं; लेखनी में गति नहीं; भाषा में शब्द नहीं है, जिससे हृदय का प्रेमोद्गार प्रस्तुत कर सकूँ। बस अध्ययन के बाद समाधिस्थ होना पड़ता है। प्रभु की कृपा मिले कि मुझे धर्मायण पढ़ने का हमेशा सुअवसर प्राप्त हो।

जगन्नाथ पाण्डेय

ग्रा०, पत्रा०- पुरन्दरा, रक्सौल, पूर्वी चम्पारण ८४५३०५

अंक सं० ६८ का अवलोकन किया। सम्पादकीय में माँ सरस्वती की ऐतिहासिकता पर सारगर्भित लेख पढ़कर अद्भुत आनन्द हुआ। रेडियो नाटक 'कालपुरुष की योजना' रामकथा की नवीन व्याख्या होने पर भी हृदयस्पर्शी लगा। दशरथ और कैकेयी के चरित्र को उदात्त बनाकर नाटककार महोदय ने बहुत बड़ा उपकार किया है। धन्यवाद! अन्य लेख भी ज्ञानवर्द्धक हैं। आपने अनेकता में एकता प्रदर्शित करने का जो संकल्प लिया है, वह श्लाघनीय है। प्रत्येक लेख पर सम्पादकीय टिप्पणी उसकी पाठकीयता को बढ़ाने में सक्षम है। वह एक प्रकार से भूमिका का कार्य करता है। धन्यवाद!

देवेन्द्र प्रसाद सिंह

कल्याणपुर, समस्तीपुर

अंक : ६६
चैत्र-भाद्र : २०६२ संवत्
अप्रैल-सितम्बर : २००५ ई०



महाबोधि मन्दिर, बोधगया को बौद्धों के अधिकार में सौंपने के प्रस्ताव पर अपील

महाबोधि मन्दिर, गया को केवल बौद्धों के अधिकार में सौंपने के विरुद्ध महावीर मन्दिर के सचिव किशोर कुणाल ने महामहिम राज्यपाल महोदय को एक ज्ञापन दिया। इस ज्ञापन में यह पक्ष प्रस्तुत किया गया है कि बोधगया का प्रसिद्ध महाबोधि मन्दिर सनातन-धर्मावलम्बियों का एक पवित्र तीर्थ स्थल है; अतः केवल बौद्धों के अधिकार में इसे देना न्यायसंगत नहीं है। इसके लिए इस ज्ञापन के मुख्य तथ्य इस प्रकार हैं—

महाबोधि मन्दिर का स्वामित्व विषयक विवाद कोई नया नहीं है। इस विषय के वाद में बौद्ध मतावलम्बी न्यायालय में हार चुके हैं। बाद में डा० राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में कांग्रेस पार्टी ने एक कमीटी का गठन किया गया, जिसमें बोधगया मन्दिर अधिनियम १९४६ पारित किया गया, जिसके अनुसार ४ बौद्धों एवं ४ सनातन मतावलम्बियों में एक महन्थ तथा जिलाधिकारी को सम्मिलित करते हुए प्रबन्ध-समिति का गठन किया गया। इस नियम के अनुसार अद्यतन मन्दिर की व्यवस्था चलती आ रही है।

पूजास्थल अधिनियम (विशेष नियम) १९६१ में कांग्रेस सरकार द्वारा पारित किया गया। इसके तीसरे अनुच्छेद में कहा गया है कि किसी भी धार्मिक स्थल का स्वरूप परिवर्तित नहीं किया जा सकता है। एक धर्म के किसी खास शाखा का यदि वह मन्दिर है तो उसी धर्म की दूसरी शाखा के स्थल के रूप में भी उसे रूपान्तरित नहीं किया जा सकता है।

प्रसिद्ध बौद्ध चीनी यात्री ह्वेन्सांग (सातवीं शती) के यात्रा वृत्तान्त के अनुसार महाबोधि मन्दिर का निर्माण एक शैव उपासक द्वारा किया गया था। उन्होंने इस मन्दिर का विशद वर्णन अपनी पुस्तक 'सि-यु-कि' में किया है। सैम्युअल वील द्वारा अंग्रेजी में अनूदित यह पुस्तक मोतीलाल बनारसी दास द्वारा प्रकाशित है। ह्वेन्सांग के अनुसार, एक शिव भक्त अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए हिमालय पर्वत पर तपस्या करने गया था। भगवान् शिव ने उन्हें दर्शन दिया और कहा कि प्रार्थना के पूर्व पर्याप्त पुण्य का संग्रह करना चाहिए। पर्याप्त पुण्य के अभाव में वरदान देना उचित नहीं होता। भक्त द्वारा पूछे जाने पर भगवान् शंकर ने बोधिवृक्ष के समीप एक विशाल मन्दिर बनवाने एवं एक तालाब खुदवाने का आदेश दिया। उस भक्त के अनुज भी वहीं उपस्थित थे। दोनों भाई बोधगया पहुँचे। अग्रज ने महाबोधि मन्दिर का निर्माण कराया और अनुज ने तालाब खुदवाया। इस पुण्य के प्रताप से अग्रज राजा का मन्त्री बना। तब उसने बोधिसत्व की भूमि-स्पर्श मुद्रा में मूर्ति की स्थापना करायी। ह्वेन्सांग ने इस शिवोपासक द्वारा निर्मित इस मन्दिर की ऊँचाई १६०-७० फीट बतलायी है, जो वर्तमान मन्दिर के अनुरूप है। इस प्रकार ह्वेन्सांग के वृत्तान्त से स्पष्ट है कि यह मन्दिर सनातन धर्मावलम्बी शैव द्वारा निर्मित है।

वाद में नवम शताब्दी में बौद्ध राजा धर्मपाल के काल में इस परिसर में भव्य महादेव मन्दिर का निर्माण हुआ। इस तथ्य की पुष्टि वहाँ के शिलालेख से भी होती है, जो अब भारत-संग्रहालय कोलकाता में संगृहीत है। नवम शताब्दी के बौद्ध शासक धर्मपाल का यह अभिलेख उसके शासन के ३२वें वर्ष का है। धर्मपाल के शासन के २६वें वर्ष में उत्कीर्ण बोधगया से प्राप्त इस अभिलेख में केशव नामक शिलाभिद् द्वारा भगवान् शिव का चतुर्मुख विग्रह स्थापित करने एवं सज्जनों के कल्याणार्थ एक तालाब खुदवाने का उल्लेख है—

ॐ धर्मशायतने रम्ये उज्ज्वलस्य शिलाभिदः केशवाख्येन पुत्रेण महादेवश्चतुर्मुखः श्रेष्ठमे(? श्रेयसे) महाबोधिनिवासिनां स्नातकानां प्रजायास्तु श्रेयसे प्रतिष्ठापिता पुष्करिणीत्यगाथा च पूता विष्णु-पदी-समा त्रितयेन सहस्रेण द्रम्माणां खानिता सतां षड्विंशतितमे वर्षे धर्मपाले महीभुजि भाद्रबहुल-पञ्चम्यां सूनोर्भास्करस्याह्नि। ॐ ।

इसका भावार्थ है कि महाबोधि-परिसर के स्नातकों के लाभार्थ धर्मेश भगवान् बुद्ध के इस मन्दिर में चतुर्मुख महादेव का प्रतिष्ठापन बेलदार (शिलाभिद्) उज्ज्वल के पुत्र केशव ने किया। तीन हजार द्रम्म की लागत से सज्जनों के कल्याणार्थ एक अतिशय गहरे तथा गंगा-सदृश पवित्र तालाब का उत्खनन भी कराया गया। राजा धर्मपाल के शासनकाल के २६वें वर्ष में भाद्रपद कृष्णपक्ष पंचमी शनिवार के दिन यह उत्कीर्ण किया गया।

सनातन-धर्मावलम्बी भगवान् बुद्ध को भगवान् विष्णु के नवम अवतार के रूप में कम से कम १२०० वर्षों से मानती आयी है। पद्मपुराण, मत्स्यपुराण, भविष्यपुराण, भागवतपुराण, अग्निपुराण, ब्रह्मपुराण, वराहपुराण, गरुडपुराण, स्कन्दपुराण, देवीभागवत, कल्किपुराण, नरसिंहपुराण, योगवासिष्ठ- जैसे आर्ष-ग्रन्थों में बुद्ध को अवतार माना गया है। आदिशंकराचार्य, गोस्वामी तुलसीदास, गीतगोविन्दकार जयदेव, अपर-व्यास क्षेमेन्द्र, नैषधकार श्रीहर्ष- जैसे सन्तों और महाकवियों ने बुद्ध की स्तुति नवम अवतार के रूप में की है। इतना ही नहीं, जयन्तभट्ट-जैसे नैयायिक भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। इस विषय पर स्वतन्त्र पुस्तक का प्रकाशन महावीर मन्दिर द्वारा 'बुद्धावताराय नमो नमस्ते' के रूप में २००३ ई० में ही किया गया है।

महाबोधि मन्दिर के परिसर में पिण्डदान भी सहस्राब्दियों से होता आया है। गया में पिण्डदान के स्थलों की सूची में दूसरे दिन के कृत्यों में इस स्थल पर पिण्डदान का विधान किया गया है। इस पिण्डदान के समय इस बोधिवृक्ष की स्तुति का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य दो श्लोक भी परम्परा से प्राप्त हैं, जिनमें इस बोधिवृक्ष को बोधितत्त्व, ग्यारहवाँ रुद्र, आठवाँ वसु तथा देवताओं में नारायण कहा गया है। इस प्रकार यह महाबोधि वृक्ष सनातन धर्मावलम्बियों के लिए भी आराध्य है।

बौद्ध धर्म के संस्थापक एवं भगवान् विष्णु के नवम अवतार गौतम बुद्ध भारतीय सांस्कृतिक समन्वय की परम्परा के अनुपम प्रतीक हैं; अतः बहुसंख्यक सनातन धर्मावलम्बियों को महाबोधि मन्दिर की प्रबन्ध समिति से हटाकर इस परम्परा से वंचित करना उचित नहीं है।